तत्त्वार्थ सूत्र

(मोक्ष शास्त्र)

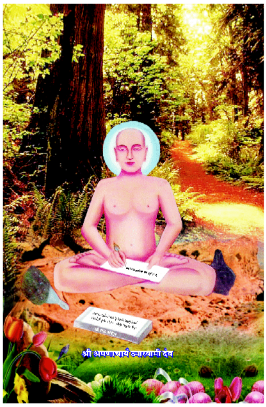

: अन्वयार्थ एवं भावार्थ :-

प.पू. राष्ट्रसंत, गणाचार्य, युगप्रमुख श्रमणाचार्य,

श्री108 डॉ. विरागसागरजी महाराज

-: प्रकाशक :-

श्री सम्यग्ज्ञान दिगम्बर जैन विराग विद्यापीठ

जैन कीर्तिस्तम्भ, बस स्टैण्ड रोड, भिण्ड (म.प्र.)

प्रसंग : परम पूज्य युगप्रमुख श्रमणाचार्य, राष्ट्रसंत, गणाचार्य श्री 108 डॉ. विरागसागरजी महाराज के ''राष्ट्रीय रजत आचार्य पदारोहण महोत्सव'' वर्ष 2016-2017 के सुअवसर पर

कृति : तत्त्वार्थ सूत्र (मोक्ष शास्त्र)

अनयार्थ एवं भावार्थ : परम पूज्य युगप्रगुख श्रमणाचार्य, राष्ट्रसंत, गणाचार्य श्री 108 डॉ. विरागसागरजी महाराज

संस्करण : प्रथम 2016, भिण्ड (म.प्र.)

प्रतियाँ : 1000

पुण्यार्जक : 1. श्रीमान् नरेन्द्रकुमार-श्रीमती सुग्रीव जैन सरिता, उत्कर्ष जैन, पथरिया
2. श्रीमान् वीरचंद श्रीमती जिनर्मान, श्रीमान् संदीप जैन, श्रीमती आराधना अमानगंज
3. श्रीमान् सतीश जैन श्रीमती अल्पना जैन, पथरिया

मूल्य : 30.00

प्राप्ति स्थान :
1. श्री सम्यग्ज्ञान दिगम्बर जैन विराग विद्यापीठ चैत्यालय मंदिर, बतासा बाजार, भिण्ड (म.प्र.) संपर्कसूत्र-पं. वीरेन्द्र जैन, मो. 9754803220
2. आचार्य श्री विरागसागर विद्यापीठ (बी.एड. कॉलेज)
पुष्प विहार कॉलौनी, बीना- 470113,
जिला- सागर (म.प्र.) मो. 9425135816
3. विराग फाउण्डेशन
सी/ओ, श्री अरुण कोटडिया,
11-ए. विक्रम नगर सोसायटी, उस्मानपुरा,
अहमदाबाद- 380013 (गुज.)मो. 9825900124
4. श्री भूपेन्द्र शांतिलाल शाह
13, वृंदावन सोसायटी, डेरी रोड, मेहसाना-2 (गुज.)
मो. 9898494914, 9829452020
6. विराग महिला मंच, बोरीवली, मुंबई (महा.)
7. पुष्पा जी, जयपुर (राज.)
8. तिलोक प्रिंटिंग प्रेस, बीकानेर
9. पंकज जैन, विराग युवा मंच, इन्दौर (म.प्र.)

मुद्रक : तिलोक प्रिंटिंग प्रेस, बीकानेर मो. 9314962474/75

जीवन की महत्त्वपूर्ण झांकियाँ
परम पूज्य गणाचार्य 108 श्री विरागसागरजी महाराज

पूर्व नाम : अरविन्द जैन (टिन्नू)

जन्म : 2 मई, 1963, गुरुवार
(वैशाख शुक्ला 9, संवत् 2020, पथरिया)

माता-पिता : श्रीमती श्यामादेवी जैन
(समाधिस्थ पू. श्रमणी आर्यिका विशांतश्री माताजी)
ब्र.श्री कपूरचन्दजी जैन
(संघस्थ पू.क्षुल्लक श्री 105 विश्ववंद्य सागर जी महाराज)

बहिन : श्रीमती मीना जैन, श्रीमती विमला जैन

भाई : श्री विजयकुमार, श्री सुरेन्द्रकुमार, बा.ब्र. श्री नरेन्द्र भैयाजी

लौकिक शिक्षा : इण्टर मध्यमा (पथरिया, श्री शांति निकेतन, दि.जैन संस्कृत विद्यालय, कटनी, म.प्र.)

क्षुल्लक दीक्षा : 20 फरवरी, 1980
(फाल्गुन शु. 5 सं. 2036 बुढ़ार, शहडोल म.प्र.)

नामकरण : पूज्य क्षु. श्री 105 पूर्णसागरजी महाराज

क्षु. दीक्षा गुरु : प.पू. तपस्वी सम्राट आचार्य श्री 108 सन्मतिसागर जी महा.

मुनि दीक्षा : 9 दिसम्बर, 1983 (मगसर शु. 5 वि.सं. 2040), औरंगाबाद (महा.)

मुनि दीक्षा गुरु : प.पू.निमित्तज्ञानी आचार्य श्री 108 विमलसागरजी महाराज

आचार्य पद : 8 नवम्बर, 1992 (का. शु. 13वि.सं. 2049) रविवार, द्रोणगिरी

संयमी सृजन : आचार्य-8, मुनि - 70, गणिनी आर्यिका-4, आर्यिका-64, ऐलक-5, क्षुल्लक -29, क्षुल्लिका- 23 कुल - 203

प्रशिष्य : 100 से अधिक

समाधि सल्लेखनाएँ : लगभग 85 एवं अनेक तिर्यंच प्राणी

चातुर्मास : 1980 से 2016 तक क्रमशः दुर्ग (छत्तीसगढ़), नागपुर (महाराष्ट्र), कारंजा लाड (महाराष्ट्र), कारंजालाड (महाराष्ट्र), नागपुर (महाराष्ट्र), भावनगर (गुजरात), पाँचवा (राज.), निमाज (राज.), जयपुर (राज.), भिण्ड (म.प्र.), भिण्ड (म.प्र.), टीकमगढ़ (म.प्र.), श्रेयांसगिरि (म.प्र.), द्रोणगिरि (म.प्र.), श्रेयांसगिरि (म.प्र.), बीना (म.प्र.), ललितपुर (म.प्र.), मढ़ियाजी (जबलपुर), भिण्ड (म.प्र.), भिण्ड (म.प्र.), भिण्ड (म.प्र.), शिखरजी (झारखण्ड), गया (बिहार), श्रेयांसगिरि (म.प्र.), भिलाई (छत्तीसगढ़), कारंजालाड (महा.) मूडबिद्री (कर्नाटक), मेलचित्तामूर (तमिलनाडू), उद्गांव (महा.), मुम्बई (महा.), गाँधीनगर (गुजरात), लोहारिया (राज.),

अजमेर (राज.), जयपुर (राज.), इन्दौर (म.प्र.), श्रेयांसगिरी (म.प्र.), पथरिया (म.प्र.), भिण्ड (म.प्र.)।

साहित्य सृजन : 1. बारसाणुवेक्खा ग्रन्थ पर 1100 पृष्ठीय ''सर्वोदया'' संस्कृत टीका, 2. रयणसार ग्रन्थ पर 1500 पृष्ठीय ''रत्नत्रयवर्धिनी'' संस्कृत टीका, श्रमण संबोधनी टीका लेखन जारी है, 3. अनेक शोधात्मक, चिन्तनशील, बालकोपयोगी कथा, अनुवाद, गद्य, संपादित साहित्य, जीवनी एवं प्रवचन साहित्य 150 से अधिक ग्रंथ।

पंचकल्याणक : लघु वृहद् मिलाकर–67

उपाधियाँ : डॉक्ट्रेट आदि 44 से अधिक

सिद्धांत वाचनाएँ : धवल ग्रन्थ की 16 पुस्तकें तथा जयधवल ग्रंथ की 6 पुस्तकें, शेष जारी हैं।

गोष्ठियाँ : विद्वत, शिक्षक, प्राचार्य, न्यायाधीश–वकील, डॉक्टर्स, शासनिक।

अहिंसा, शाकाहार एवं व्यसन मुक्ति
अभियान : भिण्ड (म.प्र.), बीना (म.प्र.), भिलाई (छ.ग.), कारंजा (महा.), मेलचित्तामूर (तमिल.), उद्गाँव (महा.), गाँधीनगर (गुजरात), लोहारिया (राज.), अजमेर (राज.), जयपुर (राज.), इन्दौर (म.प्र.) श्रेयांसगिरि (म.प्र.), पथरिया (म.प्र.), भिण्ड (म.प्र.), जिसमें 18 लाख से अधिक छात्र–छात्रायें व्यसनमुक्त, शाकाहारी एवं अहिंसा के उपासक बन चुके हैं।

शिविर : प्रतिवर्ष श्री विराग सम्यग्ज्ञान शिविर, प्रतिभा संस्कार शिविर, पूजन प्रशिक्षण शिविर, भक्तामर शिविर, श्रावक संस्कार शिविर आदि।

विशेष प्रवचन : कॉलेज, स्कूल, जेल, न्यायालय, गौशाला, वृद्धाश्रम, गुरुकुल, मुख्य चौराहे आदि पर हुए।

जेल प्रवचन : भिण्ड, टीकमगढ़, दुर्ग, उदयपुर, चित्तौड़गढ़, जयपुर, अजमेर, इन्दौर, पन्ना, दमोह।

न्यायालय प्रवचन: अजमेर

पगविहार : 70,000 किलोमीटर से अधिक।

संघ सम्मेलन : भिण्ड, श्रेयांसगिरी, बीना, ललितपुर, श्रवणबेलगोला, औरंगाबाद, जयपुर।

वृहद् यति सम्मेलन:
एवं युगप्रतिक्रमण जयपुर (200 शिष्य–प्रशिष्य, अन्य साधु भी) श्रमण–श्रमणी की प्राचीन परम्परा की पुनः स्थापना।

तत्त्वार्थसूत्र (मोक्ष शास्त्र)

(श्री उमास्वामिविरचित)

प्रथम अध्याय

मंगलाचरण

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये।।

अर्थ-जो मोक्षमार्ग के नेता, कर्मरूपी पर्वतों के भेदकरने और विश्व के समस्त तत्त्वों को जानने वाले भगवान को उन के गुणों की प्राप्ति के लिए वन्दन करता हूँ।

मोक्ष की प्राप्ति का उपाय

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।।1।।

अर्थ-(सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों का समुदाय (मोक्षमार्गः) मोक्ष का मार्ग अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति की उपाय है।

विशेषार्थ- यहाँ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्मगचारित्र तीन है अतः बहुवचन का प्रयोग है। मोक्ष मार्ग दो तीन या अनेक नहीं है तीनों अलग-अलग मोक्ष मार्ग नहीं है। तीनों मिलेगें तब ही मोक्ष मार्ग बनेगा जैसे- लड्डू-बेसन, शक्कर घी का मिश्रण लड्डू है एक-एक वस्तु अलग-अलग लड्डू नहीं है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है। तत्त्वों का अर्थ सहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित जीवादि पदार्थों का ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। कषाय, पाप और व्यसन आदि संसार के कारणों से विरक्त होना तथा देवपूजा आदि शुभ क्रियाओं में प्रवृत्त होना और हिंसादि अशुभ क्रियाओं से निवृत्ति सम्यक्चारित्र कहलाता है।

सम्यग्दर्शन का लक्षण

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।।2।।

अर्थ-(तत्त्वार्थश्रद्धानं) तत्त्व अर्थात वस्तु के स्परूपसहित अर्थ तत्त्वों या पदार्थों का श्रद्धान (सम्यग्दर्शनम्) सम्यग्दर्शन है।

विशेषार्थ-जीव आदि तत्त्वों के स्परूप का निश्चय तत्वार्थ है और तत्वार्थ का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन के उत्पत्ति की हेतु वा भेद

तन्निसर्गादधि-गमाद्धा।।3।।

अर्थ-(तत्) वह सम्यग्दर्शन (निसर्गात्) स्वभाव से (वा) अथवा (अधिगमात्) पर के उपदेश आदि से उत्पन्न होता है।

विशेषार्थ-सम्यग्दर्शन के उत्पत्ति की अपेक्षा दो भेद होते हैं-निसर्गज और अधिगमज। 1. निसर्गज सम्यग्दर्शन जो सम्यग्दर्शन पर के उपदेश आदि के बिना स्वभाव से ही प्राप्त होता है उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं। उदाहरण एक बालक बिना माता-पिता की प्रेरणा से स्वयं पढता है। 2. अधिगमज सम्यग्दर्शन - जो सम्यग्दर्शन पर के उपदेश आदि से प्राप्त होता है उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं। उदाहरण- एक बालक माता-पिता की प्रेरणा से पढ़ता है।

तत्त्वों के नाम या भेद

जी-वाजी-वास्त्रव-बन्ध-संवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।।4।।

अर्थ-(जीवाजीवास्त्र-वबंधसंवरनिर्जरामोक्षाः) जीव, अजीव, आस्त्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं।

विशेषार्थ-जीव-जिसमें चेतना (ज्ञान दर्शन शक्ति) होती है उसे जीव कहते हैं। **अजीव**-जिसमें चेतना नहीं होती उसे अजीव कहते है। **आस्त्रव**-कर्मों के आने के द्वार को आस्त्रव कहते हैं। बन्ध-आत्म प्रदेशों और कर्म प्रदेशों का परस्पर मिल जाना बन्ध कहलाता है।

संवर-आस्त्रव के रुकने को संवर कहते है। **निर्जरा**-कर्मों का एकदेश क्षय होने को निर्जरा कहते है। मोक्ष-आत्मा से समस्त कर्मों का क्षय (अभाव) होने को मोक्ष कहते है।

तत्त्वों और रत्नत्रय को जानने के उपाय

नाम-स्थापना-द्रव्य-भावतस्तन्-यासः।।5।।

अर्थ-(नामस्थापनाद्रव्यभावतः) नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से (तन्न्यासः) उन सातों तत्त्वों और रत्नत्रय का निक्षेप या लोक व्यवहार होता है।

विशेषार्थ-निक्षेप-'प्रमाणों और नयों के अनुसार प्रचलित हुए लोक व्यवहार को निक्षेप कहते हैं। **निक्षेप के चार भेद हैं**-नाम निक्षेप, स्थापना निक्षेप, द्रव्य निक्षेप और भाव निक्षेप।

नामनिक्षेप-गुण, जाति, द्रव्य और क्रिया की अपेक्षा के बिना लोक व्यवहार के लिए किसी का कोई नाम रखने को नामनिक्षेप कहते हैं। जैसे किसी माता-पिता ने अपने पुत्र का नाम 'इन्द्र' रखा। किन्तु उस पुत्र में इन्द्र का कोई गुण नहीं है। अतः वह पुत्र नाम मात्र से इन्द्र है, वास्तव में इन्द्र नहीं।

स्थापनानिक्षेप-धातु, काष्ठ, पाषाण आदि के चित्र, मूर्ति तथा अन्य पदार्थ में 'यह वह है' इस प्रकार मान्यता (आरोप) स्थापनानिक्षेप है। स्थापना दो प्रकार की होती है-तदाकार और अतदाकार। उसी आकारवान में उसी आकारवान की मान्यता तदाकार स्थापना कहलाती है। जैसे इन्द्राकार मूर्ति में इन्द्र की मान्यता (आरोप)। भिन्न आकारवान पदार्थ में भिन्न आकारवान की मान्यता अतदाकार स्थापना है। जैसे-शतरंज की गोटी (मोहरों) में बादशाह और वजीर वगैरह की मान्यता (आरोप), पीली चटक में दीप की कल्पना।

द्रव्यनिक्षेप-भूत और भविष्यत पर्याय की मुख्यता लेकर वर्तमान में कहना द्रव्यनिक्षेप है। जैसे इन्द्र की मूर्ति बनाने के लिए जो पाषाण या काष्ठ लाया गया है उसे इन्द्र कहना या मुनीमी छोड़ देने पर भी किसी को मुनीम कहना।

भावनिक्षेप- केवल वर्तमान पर्याय की मुख्यता से कथन करना अर्थात् जो पदार्थ जैसा है उसको उसी रूप कहना युक्त वस्तु को भावनिक्षेप हैं। जैसे इन्द्र को इन्द्र कहना। (नामनिक्षेप में पूजा या सम्मान नहीं होता किन्तु स्थापनानिक्षेप में पूजा या सम्मान होता है। यही इन दोनों में अन्तर है।)

तत्त्वों और रत्नत्रय को जानने के अन्य उपाय

प्रमाण-नयै-रधिगमः।।6।।

अर्थ-तत्त्वों और रत्नत्रय का (अधिगमः) ज्ञान (प्रमाणनयैः) प्रमाण और नयों से होता है।

विशेषार्थ- जो ज्ञान वस्तु के सर्वदेश को जानता है उस ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। प्रमाण के दो भेद हैं-प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष **प्रमाण**- जो ज्ञान किसी दूसरे (इन्द्रियादिक) की सहायता के बिना पदार्थ को स्पष्ट जानता है उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। परोक्ष-प्रमाण-इन्द्रिय और प्रकाश आदि की सहायता से जो वस्तु को एकदेश स्पष्ट जानता है उस ज्ञान को परोक्षप्रमाण कहते हैं।

नय-वस्तु के एकदेश को जानने वाले ज्ञान को नय कहते हैं। नय के दो भेद हैं-द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। **द्रव्यार्थिक** नय-जो नय, द्रव्य को जानता है उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। **पर्यायार्धिक** नय-जो नय, पर्याय को जानता है उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं।

प्रमाण और नय का उदाहरण

निर्देश-स्वामित्व-साधना-धिकरण-स्थिति-विधानतः।।7।।

अर्थ-निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इन छह अनुयोगों (विधियों) के द्वारा भी तत्त्वों और रत्नत्रय का ज्ञान या लोक व्यवहार होता है।

विशेषार्थ-निर्देश-वस्तु के स्वरूप या नाम के कथन को निर्देश कहते हैं। **स्वामित्व**-वस्तु के स्वामी-पने को स्वामित्व कहते हैं। **साधन**-वस्तु की उत्पत्ति के कारण को साधन कहते हैं। **अधिकरणा**-वस्तु के आधार को अधिकरण कहते हैं। **स्थिति**-वस्तु के ठहरने के काल की मर्यादा को स्थिति कहते हैं। **विधान**-वस्तु के भेदों को विधान कहते हैं।

जब किसी वस्तु का ज्ञान करना हो या कराना हो इसके लिए नाम, स्वामी, साधन, आधार, काल तथा भेद से जानना चाहिए। निर्देश-पेन, पुस्तक, पिच्छि यह नाम कथन निर्देश है।

स्वामित्व - पेन, पुस्तक, पिच्छि किसके हैं स्वामित्व। साधन- ये किससे बने-पेन प्लास्टिक इंक आदि से, पुस्तक कागज प्रेस से प्रिंट आदि बाईडिंग होकर बनी, पंख धागा, डण्डी से पिच्छि बनी अधिकरण-पेन का आधार हमारा हाथ, पुस्तक का आधार चौकी, पिच्छि का आधार हाथ। स्थिति- कितने काल तक पेन/पुस्तक/पिच्छि रहेगी 1 वर्ष, 10 वर्ष, 100 वर्ष, 1000 वर्ष आदि। विधान- कितने प्रकार के पेन/पुस्तक पिच्छि आदि होते है।

तत्त्वों और रत्नत्रय को जानने के उपायान्तर

सत्संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-कालान्तर-भावाल्प-बहुत्वैश्च।।8।।

अर्थ-सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगों (विधियों) के द्वारा भी तत्त्वों और रत्नत्रय का ज्ञान या लोक व्यवहार होता है।

विशेषार्थ-1. **सत**-वस्तु के अस्तित्व (मौजूदगी) को सत् कहते हैं। 2. **संख्या**- वस्तु के दो भेदों की गिनती को संख्या कहते हैं। 3. **क्षेत्र**-वस्तु के वर्तमान निवास स्थान को क्षेत्र कहते हैं। 4. **स्पर्शन**- वस्तु के तीनों कालों संबंधी निवास स्थान को स्पर्शन कहते हैं। 5. **काल**- वस्तु के ठहरने की मर्यादा को काल कहते

हैं। 6. **अंतर**- वस्तु के विरह काल को अन्तर कहते हैं। 7. **भाव**- औपशमिक और क्षायिक आदि परिणामों को भाव कहते हैं। भाव सिर्फ जीव में ही होते हैं वे दूसरे अध्याय में बतायेंगे। 8. **अल्प-बहुत्व**- अन्य पदार्थ की अपेक्षा किसी वस्तु की हीनाधिकता के वर्णन को अल्पबहुत्व कहते हैं। 1. जैसे- पेन है। 2. जैसे- पेन एक है। 3. जैसे - यह पेन वर्तमान में इतनी जगह में है। 4.   5. जैसे - ये पेन एक वर्ष तक रहेगा। 6. जैसे- यह पेन खो गया 10 दिन बाद मिल गया तो तो पेन का विरह काल अंतर 10 दिन हुआ। 7. जैसे पेन में भाव नहीं पाये जाते। 8. जैसे - पेन 10 है अत:पुस्तक से पेन अधिक है आदि।

सम्यग्ज्ञान के भेद या नाम

मति-श्रुतावधि-मनः पर्यय-केवलानि ज्ञानम्।।9।।

अर्थ-(मतिश्रुतावधिमनः पर्ययकेवलानि) मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय और केवल ये पाँच (ज्ञानम्) ज्ञान हैं।

विशेषार्थ- मतिज्ञान-इन्द्रियों और मन के द्वारा पदार्थों का जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं। **श्रुतज्ञान**- मतिज्ञान से ज्ञात पदार्थ का जो विशेषरूप से ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।

अवधिज्ञान- द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिए हुए रूपी पदार्थों का इन्द्रियादिक की सहायता बिना जो ज्ञान होता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

मन:पर्ययज्ञान- द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिए परकीय मनोगत रूपी पदार्थ का इन्द्रियादिक की सहायता बिना जो ज्ञान होता है उसे मनः पर्ययज्ञान कहते हैं।

केवलज्ञान- सब द्रव्यों तथा उनकी सब पर्यायों को एक साथ स्पष्ट जानने वाले ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं।

प्रमाण के भेद

तत्प्रमाणे।।10।।

अर्थ-(तत्) वह पाँच प्रकार ज्ञान ही (प्रमाणे) प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाणरूप है।

विशेषार्थ-सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। उसके दो भेद हैं-परोक्ष और प्रत्यक्ष।

परोक्षप्रमाण के भेद

आद्ये परोक्षम्।।11।।

अर्थ-(आद्ये) आदि के दो अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान (परोक्षम्) परोक्षप्रमाण हैं।

विशेषार्थ-मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष इसलि प्रमाण हैं क्योंकि ये इन्द्रिय और मन की सहायता से होते है।

प्रत्यक्षप्रमाण के भेद

प्रत्यक्ष-मन्यत्।।12।।

अर्थ-(अन्यत्) शेष तीन अर्थात् अवधि, मनः पर्यय और केवलज्ञान (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष प्रमाण (अस्ति) हैं।

मतिज्ञान के पर्यायवाची

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्य-नर्थान्तरम्।।13।।

अर्थ-मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध अन्य पदार्थ नहीं हैं, मतिज्ञान के ही नामान्तर हैं। क्योंकि ये पाँचों ही मतिज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से होते हैं।

मति-इन्द्रिय और मन की सहायता से जो ज्ञान होता है, उस ज्ञान को मति कहते हैं। जैसे-'**वह देवदत्त**'।

स्मृति-पहले जानी या देखी हुई वस्तु के स्मरण को स्मृति कहते हैं।

संज्ञा-वर्तमान में किसी वस्तु को देखकर 'यह वही है' इस प्रकार स्मरण और प्रत्यक्ष के जोड़रूप ज्ञान को संज्ञा कहते हैं। जैसे-**यह वही पुरुष है, जिसे पहले देखा था।**

चिन्ता-व्याप्ति के ज्ञान को चिन्ता कहते हैं। जैसे-**जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होती है।**

अभिनिबोध-साधन से साध्य के ज्ञान को अभिनिबोध कहते हैं इसका दूसरा नाम अनुमान भी है। जैसे-**कहीं धुआँ उठता देखकर यह जानना कि यहाँ अग्नि है।**

ये सब मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होते हैं इसलिए निमित्त सामान्य की अपेक्षा सबको एक कहा है परंतु इन सब में स्परूप भेद अवश्य है।

मतिज्ञान की उत्पत्ति के कारण

तदिन्द्रि-यानिन्द्रिय-निमित्तम्।।14।।

अर्थ-(तत्) वह मतिज्ञान (इंद्रियानिन्द्रियनिमित्तम्) पांचों इन्द्रियों और मन के निमित्त से होता है।

मतिज्ञान के भेद

अवग्रहे-हावाय-धारणाः।।15।।

अर्थ-मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद हैं। दर्शन-वस्तु की सत्ताभाव के ग्रहण या सामान्य अवलोकन को दर्शन या दर्शनोपयोग कहते हैं। इसका विषय इतना सूक्ष्म होता है कि उदाहरण से नहीं समझाया जा सकता है।

अवग्रह- दर्शन के बाद हुए शुक्ल, कृष्ण आदि रूप विशेष के ज्ञान को अवग्रह कहते हैं। जैसे-नेत्र से सफेद रूप को जानना अवग्रह है। **ईहा**- अवग्रह से ज्ञात पदार्थ में विशेष जानने की इच्छा को ईहा कहते हैं। जैसे-यह सफेद रूप वाली वस्तु बगुला है या पताका? ऐसी जिज्ञासा।

अवाय- विशेष चिह्नों के द्वारा यथार्थ वस्तु का निर्णय होने को अवाय कहते हैं। जैसे-शुक्ल पदार्थ में पंखों का फड़-फड़ाना और उड़ना आदि चिह्न देखकर बगुले का निश्चय होना।

धारणा-निश्चित वस्तु का कालान्तर में विस्मरण नहीं होना धारणा कहलाती है।

अवग्रह आदि के विषयभूत पदार्थ

बहु-बहुविध-क्षिप्रानिःसृता-नुक्त-ध्रुवाणां-सेतराणाम्।।16।।

अर्थ-(सेतराणाम्) अपने प्रतिपक्षी एक, एकविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त और अध्रुव भेदों सहित (बहुबहुविधीक्षिप्रानिः सृतानुक्तध्रुवाणाम्) बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिः सृत, अनुक्त और ध्रुव इन बारह प्रकार के पदार्थों का अवग्रह ईहा आदि ज्ञान होता है।

बहु- एक जाति की बहुत वस्तुओं के ग्रहण को बहुज्ञान कहते हैं। जैसे-सेना या वन को एक समूह रूप में जानना। **बहुविध**-बहुत प्रकार की वस्तुओं के ग्रहण को बहुविधज्ञान कहते हैं। जैसे-सेना में हाथी, घोड़े वगैरह का तथा वन में आम, महुआ, आदि भेदों का जानना। **अनिःसृत**-वस्तु के एक भाग को देखकर पूरी वस्तु को जान लेना अनिःसृत ज्ञान है। जैसे-जल में डुबे हुए हाथी की सूंड़ देखकर समूचे हाथी का ज्ञान।

क्षिप्र-शीघ्रता से जाती हुई वस्तु को जानना क्षिप्रज्ञान है। जैसे-तेज चलती हुई रेलगाड़ी को या उसमें बैठकर बाहर की वस्तुओं को जानना। **अनुक्त**-बिना कहे अभिप्राय से ही जान लेना अनुक्तज्ञान है। जैसे - हाथ के इशारे या सिर के इशारे सो हा या ना कहना ध्रुव-बहुत काल तक जैसा का तैसा निश्चल ज्ञान या पर्वत वगैरह स्थिर पदार्थ को जानना ध्रुवज्ञान है।

एक-अल्प अथवा एक का ज्ञान अल्पज्ञान है। जैसे-एक मनुष्य या एक बैल का ज्ञान। **एकविध**-एक प्रकार की वस्तुओं का ज्ञान एकविध ज्ञान है। जैसे-एक सदृश गेहूँओं का ज्ञान। **अक्षिप्र**-धीरे-धीरे चलते हुए घोड़े वगैरह को जानना अक्षिप्रज्ञान है। जैसे- कछुआ, मनुष्य, चीटीं आदि। **निःसृत**-सामने विद्यमान पूरी वस्तु को जानना निःसृतज्ञान है। जैसे- सामने खड़ा हाथी। **उक्त**- शब्द कहने पर जानना उक्तज्ञान है। जैसे- यह घर है। **अध्रुव**-चंचल बिजली वगैरह को जानना अध्रुवज्ञान है। जैसे- इन्द्रधनुष।

बहुविध आदि किसके विशेषण हैं?

अर्थस्य।।17।।

ये बहु-बहुविध आदि बारह भेद पदार्थ (द्रव्य) के हैं । अर्थात् बहु-आदि विशेषण से युक्त पदार्थ के ही अवग्रह आदि ज्ञान होते है। बहुविध-बहुत प्रकार के पदार्थ, इस तरह बारह भेद पदार्थ के विशेषण हैं।

अवग्रहज्ञान में विशेषता

व्यंजनस्यावग्रहः।।18।।

अर्थ-(व्यंजनस्यावग्रहः) अस्पष्ट शब्द वगैरह पदार्थों का केवल अवग्रह ज्ञान (जायते) होता है ईहा आदि तीन ज्ञान नहीं होते।

विशेषार्थ-अवग्रह के दो भेद हैं-व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह। **अर्थावग्रह**-स्पष्ट पदार्थ के अवग्रह को अर्थावग्रह कहते हैं। **व्यंजनावग्रह**-अस्पष्ट पदार्थ के अवग्रह को व्यञ्जनावग्रह कहते हैं।

जैसे-कान में एक हल्की सी आवाज का मामूली सा भान होकर रह गया, इसके बाद फिर कुछ भी नहीं जान पड़ा कि क्या था? ऐसी अवस्था मे केवल व्यंजनावग्रह ही होकर रह जाता है। परंतु धीरे-धीरे यह आवाज यदि स्पष्ट हो जाती है तो व्यञ्जनावग्रह के बाद अर्थावग्रह और फिर ईहा आदि ज्ञान भी होते हैं। इसलिए अस्पष्ट पदार्थों का केवल अवग्रह ज्ञान ही होता है। और स्पष्ट पदार्थों के चारों ज्ञान होते हैं।

व्यंजनावग्रह की विशेषता

न चक्षु-रनिन्द्रियाभ्याम्।।19।।

अर्थ-व्यंजनावग्रह नेत्र और मन से नहीं होता। शेष चार इन्द्रियों से ही होता है।

नोट-इस तरह 12 प्रकार का अवग्रह, 12 प्रकार का ईहा, 12 प्रकार का अवाय और 12 प्रकार का धारणा ज्ञान होता है। इस प्रकार मतिज्ञान के 48 भेद

हुए। तथा इनमें से प्रत्येक ज्ञान पांचों इंद्रियों और मन के द्वारा होता है। इसलिए 48 का 6 गुणा करने पर मतिज्ञान के 288 भेद हुए। इनमें व्यंजनावग्रह के 12 × 4=48 भेद मिला देने (288+48) 336 मतिज्ञान के भेद होते हैं।

श्रुतज्ञान का स्वरूप या भेद

श्रुतं मति-पूर्वं द्वयनेक-द्वादश-भेदम्।।20।।

अर्थ-(श्रुतम्) श्रुतज्ञान (मतिपूर्वम्) मतिज्ञानपूर्वक होता है। और वह श्रुतज्ञान (द्वयनेकद्वादशभेदभ्) दो, अनेक तथा बारह भेद वाला है।

विशेषार्थ-श्रुतज्ञान मतिज्ञान के बाद होता है। अर्थात् श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक ही होता है। श्रुतज्ञान के दो भेद हैं-अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। इनमें से अंगबाह्य के अनेक भेद हैं और अंगप्रविष्ट के 12 भेद हैं।

आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृ-धर्मकथांग, उपासकाध्ययनांग, अन्तः कृतदशांग, अनुत्तरोप-पादिकदशांग, प्रश्नव्याकरणांग, विपाकसूत्रांग और दृष्टिप्रवादांग ये 12 अंगप्रविष्ट के भेद हैं।

इनमें से **दृष्टिप्रवाद के पाँच भेद हैं**-परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। **परिकर्म के पाँच भेद हैं**-व्याख्याप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, चंद्रप्रज्ञप्ति। **चूलिका के पांच भेद हैं**-जलगता, स्थलगता, मायागता, आकाशगता और रूपगता। सूत्र और प्रथमानुयोग एक-एक ही हैं।

पूर्वगत के 14 भेद हैं- उत्पाद (पूर्व), अग्रायणी, वीर्यानुवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान, विद्यानुप्रवाद पूर्व, कल्याणानुवाद पूर्व, प्राणवायप्रवाद पूर्व, क्रियाविशाल पूर्व और लोकबिन्दु सार। इनका विशेष विवरण राजवर्तिक और सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रंथों से जानना चाहिए।

भवप्रत्यय अवधिज्ञान के भेद वा स्वामी

भव-प्रत्ययोऽवधि र्देवनारकाणाम्।।21।।

अर्थ-(भवप्रत्ययः) भवप्रत्यय नामक (अवधिः) अवधिज्ञान (देवनारकाणाम्) देवों और नारकियों के (भवति) होता है।

विशेषार्थ-अवधिज्ञान के दो भेद हैं-भवप्रत्यय अवधिज्ञान और क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान। क्षयोपशमनिमित्तक का दूसरा नाम गुणप्रत्यय भी है।

भवप्रत्यय अवधिज्ञान -जिस अवधिज्ञान के उत्पन्न होने में भव (पर्याय) ही निमित्त होता है, अन्य व्रत आदि कारण नहीं होते उसे भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं।

गुणप्रत्यय अवधिज्ञान -जो अवधिज्ञान व्रत नियम आदि के द्वारा अवधिज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से होता है उसे गुणप्रत्यय (क्षयोपशमनिमित्तक) अवधिज्ञान कहते हैं।

भवप्रत्यय-अवधि में भी अवधिज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम रहता है। पर वह देव तथा नरक पर्याय में नियम से प्रगट होता है। भवप्रत्यय अवधिज्ञान तीर्थंकर के भी होता है।

गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के भेद व स्वामी

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्।।22।।

अर्थ-(क्षयोपशमनिमित्तः) क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान (षड्विकल्पः) छह भेद वाला होता है और वह (शेषाणाम्) मनुष्य तथा तिर्यंचों को होता है।

विशेषार्थ-गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के छह भेद हैं। अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित।

1. **अनुगामी**-जो अवधिज्ञान सूर्य के प्रकाश की तरह दूसरे भव या क्षेत्र में भी जीव के साथ बना रहता है उसे अनुगामी कहते हैं।

2. **अननुगामी**- जो अवधिज्ञान दूसरे भव या क्षेत्र में जीव के साथ नहीं जाता उसे अननुगामी कहते हैं।

3. **वर्धमान**- जो अवधिज्ञान शुक्लपक्ष के चंद्रमा की कलाओं की तरह बढ़ता रहता है उसे वर्धमान कहते हैं।

4. **हीयमान**- जो अवधिज्ञान कृष्णपक्ष के चंद्रमा की कलाओं की तरह घटता रहता है उसे हीयमान कहते हैं।

5. **अवस्थित**- जो अवधिज्ञान सूर्य या तिल के समान एक सा रहता है, न घटता है और न बढ़ता है उसे अवस्थित कहते हैं।

6. **अनवस्थित**- जो अवधिज्ञान हवा से प्रेरित जल की तरंगों की तरह घटता बढ़ता रहता है, एकसा नहीं रहता उसे अनवस्थित कहते हैं।

अन्य ग्रंथों में अवधिज्ञान के देशावधि, परमावधि, सर्वावधि भेद भी बताए हैं। इसमें देशावधि ज्ञान चारों गतियों में हो सकता है परंतु परमावधि व सर्वावधि ज्ञान चरण शरीरी मनुष्यों को ही होता है।

तीर्थंकर भगवान के गृहस्थावस्था में तथा देव, नारकियों तिर्यंचों के देशावधि ही होता है

मन:पर्ययज्ञान के भेद

ऋजु-विपुलमती मन:पर्ययः।।23।।

अर्थ-(मनः पर्ययः) मनः पर्ययज्ञान (ऋजुविपुलमती) ऋजुमति और विपुलमति दो भेदरूप (भवति) है।

विशेषार्थ-ऋजुमति-त्रियोग की सरलता से स्पष्ट विचारे गए दूसरे के मन में स्थित रूपी पदार्थ को जानने वाला ज्ञान ऋजुमति कहलाता है। **विपुलमति**-दूसरे के मन में गूढ़ अथवा जटिल रूप में स्थित पदार्थ को जानने वाला ज्ञान विपुलमति कहलाता है।

ऋजुमति और विपुलमति में अन्तर

विशुद्ध-चप्रति-पाताभ्यां तद्विशेषः।।24।।

अर्थ-(विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्याम्) विशुद्धि और अप्रतिपात से (तद्विशेषः) ऋजुमति और विपुलमति में विशेषता (विद्यते) है।

विशेषार्थ विशुद्धि- मनः पर्ययज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से आत्मा में जो उज्ज्वलता होती है उसे विशुद्धि कहते हैं।

अप्रतिपात- संयम परिणाम की वृद्धि होने से गिरावट का न होना अप्रतिपात कहलाता है। ऋजुमति से विपुलमति अधिक विशुद्ध होता है। तथा ऋजुमति होकर छूट भी जाता है, किन्तु विपुलमति केवलज्ञान होने तक बराबर बना रहता है।

अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान में अन्तर

विशुद्धि-क्षेत्र-स्वामिविषयेभ्योऽवधि-मनः पर्यययोः।।25।।

अर्थ-(अवधिमनः पर्यययोः) अवधि और मनः पर्ययज्ञान में (विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्यः) विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय की अपेक्षा विशेषता होती है।

विशेषार्थ-अवधिज्ञान अविशुद्ध, बड़ाक्षेत्र, अधिक स्वामी और स्थूल विषयवान है, किन्तु मनः पर्ययज्ञान विशुद्ध, अल्पक्षेत्र, अल्पस्वामी और सूक्ष्म विषयवान है। इस प्रकार इन दोनों में अन्तर है।

मतिज्ञान वा श्रुतज्ञान का विषय

मति-श्रुतयो-र्निबन्धो-द्रव्येष्वसर्व-पर्यायेषु।।26।।

अर्थ- (मतिश्रुतयोः) मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का (निबंधः) विषय संबंध (असर्वपर्यायेषु) सर्व पर्यायों से रहित (द्रव्येषु) द्रव्यों में होता है।

विशेषार्थ- मतिज्ञान और श्रुतज्ञान रूपी और अरूपी सभी द्रव्यों को जानते हैं। परंतु उनकी कुछ-कुछ ही पर्यायों को जान पाते हैं, सब पर्यायों को नहीं।

अवधिज्ञान का विषय

रूपिष्ववधेः।।27।।

अर्थ-(अवधेः) अवधिज्ञान का (विषयः) विषय संबंध (रूपिषु) रूपी पदार्थो में है अर्थात् अवधिज्ञान रूपी पदार्थों को जानता है।

विशेषार्थ- अवधिज्ञान रूपी पुद्गल और कर्म सहित संसारी जीव की कुछ पर्यायों को विषय करता है। (यहाँ असर्वपर्यायेषु का संबंध कर लेना चाहिए)

मनः पर्ययज्ञान का विषय

तदनन्तभागे मनः पर्ययस्य।।28।।

अर्थ-(मनः पर्ययस्य) मनः पर्ययज्ञान का विषय संबंध (तदनन्तभागे) सर्वावधिज्ञान के विषयभूत रूपी द्रव्य के अनन्तवें भाग में है।

विशेषार्थ- सर्वावधिज्ञान जिस रूपी द्रव्य को जानता है उसके अनन्त वें भाग सूक्ष्म पदार्थ को मनः पर्ययज्ञान जानता है। सारांश यह है कि मनः पर्ययज्ञान अवधिज्ञान से अत्यंत सूक्ष्म रूपी द्रव्य को जानने की शक्ति रखता है।

केवलज्ञान का विषय

सर्व-द्रव्य-पर्यायेषु केवलस्य।।29।।

अर्थ- (केवलस्य) केवलज्ञान का विषयसंबंध (सर्वद्रव्यपर्याययेषु) सब द्रव्यों में और उनकी सब पर्यायों में है।

विशेषार्थ -सब द्रव्यों को और सब द्रव्यों की त्रिकालवर्ती अनन्तानंत पर्यायों को केवलज्ञान एक साथ एक समय में प्रत्यक्ष जानता है।

एक साथ एक आत्मा में रहने वाले ज्ञानों की संख्या

एकादीनि भाज्यानि युग-पदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः।।30।।

अर्थ-(एकस्मिन्) एक जीव में (युगपत्) एक साथ (एकादीनि) एक को आदि लेकर (आचतुर्भ्यः) चार ज्ञान तक (भाज्यानि) विभक्त करने योग्य है अर्थात् हो सकते है।

विशेषार्थ- यदि एक ज्ञान हो-तो केवलज्ञान, दो ज्ञान हो-तो मति, श्रुत, तीन ज्ञान हो-तो मति, श्रुत, अवधि, अथवा मति, श्रुत, मनः पर्यय यदि चार ज्ञान हो-तो मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय होते हैं। एक साथ पांचों ज्ञान किसी भी जीव के नहीं होते सकते हैं।

क्योंकि प्रारंभ के चार ज्ञान ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होते हैं तथा केवलज्ञान ज्ञानावरणकर्म के क्षय से प्रकट होता है।

मति, श्रुत और अवधिज्ञान में मिथ्यापन

मति-श्रुतावधयो विपर्ययश्च।।31।।

अर्थ-(मतिश्रुतावधयः) मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान (विपर्ययः च) मिथ्या भी होते हैं।

विशेषार्थ- मति, श्रुत, और अवधि ज्ञान मिथ्या भी होते हैं। इन्हें क्रम से कुमति, कुश्रुत और कुअवधि (विभंगावधि) भी कहते हैं।

इन तीनों ज्ञानों में मिथ्यापन मिथ्यादर्शन के संसर्ग से होता है। जैसे कड़वी तुम्बी में रखा हुआ दूध कड़वा हो जाता है। वैसे ही जिस आत्मा के मिथ्यादर्शन का उदय है उस आत्मा के ज्ञान मिथ्या होते हैं। जैसे सर्प के मुख में दूध भी विष हो जाता है। मिथ्यादृष्टि जीव को हित के उपदेश पर श्रद्धान नहीं होता है।

ज्ञानों के मिथ्या होने का हेतु

स-दसतो-रविशेषाद्-यदृच्छोप-लब्धे-रून्मत्त-वत्।।32।।

अर्थ- (यदृच्छोपलब्धेः) अपनी इच्छानुसार जैसा तैसा जानने के कारण (सदसतोः) सत्य और असत्य पदार्थों में (अविशेषात्) अन्तर या भेद न होने से (उन्मत्तवत्) पागल मनुष्य के ज्ञान की तरह (विपर्ययः) मिथ्यादृष्टि का ज्ञान मिथ्या होता है।

शंका-सम्यग्दृष्टि अपने यथार्थ मति, श्रुत और अवधिज्ञान द्वारा पदार्थों को जैसा जानता है, मिथ्यादृष्टि मिथ्या मति, श्रुत, और अवधि द्वारा भी पदार्थों को वैसा ही जानता है। फिर मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को मिथ्या क्यों कहा?

उत्तर-मदिरा पीकर उन्मत हुआ मनुष्य कभी माता से पत्नी कहलाता है, कभी पत्नी से माता कहता है। तथा कभी पत्नी को पत्नी और माता को माता भी कह बैठता है। फिर वह ठीक समझ कर ऐसा नहीं कहता। इसी तरह मिथ्यादृष्टि घट, पट आदि पदार्थों को घट, पट आदि ही जानता है किन्तु मिथ्यात्व का उदय होने से यथार्थ वस्तुस्वरूप का ज्ञान उसे नहीं होता।

अर्थात् उसे वस्तु की वास्तविकता (सत्यता) और अवास्तविकता (असत्यता) का भेद (अन्तर) या बोध नहीं होता। इसी से उसका ज्ञान मिथ्या माना जाता है।

नयों के भेद

नैगम-संग्रह-व्यवहा-रर्जु-सूत्रशब्द-समभिरू- ढैव-म्भूतानयाः।।33।।

अर्थ-(नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूताः) नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवम्भूत (नयाः) ये सात नय हैं। वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म की मुख्यता कर अन्य धर्मों का विरोध नहीं करते हुए पदार्थ का जानना नय कहलाता है।

नैगमनय-जो नय अनिष्पन्न अर्थ के संकल्प मात्र को ग्रहण करता है उसे नैगमनय कहते हैं। जैसे-लकड़ी, पानी, आदि सामग्री इकठ्ठा करने वाले मनुष्य से कोई पूछता है कि आप क्या कर रहे हो? तो वह उत्तर देता है कि भात पका रहा हूँ। किन्तु उस समय वह भात पकाने की तैयारी कर रहा है पर उसका संकल्प (भाव, इरादा या विचार) भात बनाने का है अतः जो पर्याय अभी निष्पन्न नहीं हुई उसे वह निष्पन्न मानकर व्यवहार करता है यह नैगमनय है।

संग्रहनय-जो नय अपनी जाति का विरोध नहीं करके एकपने से अनेक पदार्थों को ग्रहण करता है उसे संग्रहनय कहते हैं। जैसे-द्रव्य कहने से समस्त द्रव्यों का, जीव कहने से समस्त जीवों का, और पुद्गल कहने से समस्त पुद्गलों का ग्रहण होता है।

व्यवहारनय-जो नय संग्रहनय के द्वारा ग्रहण किये हुए (ज्ञात) पदार्थों का विधिपूर्वक भेद करता है। उसे व्यवहार नय कहते हैं। जैसे-द्रव्य के छह भेद करना। जीव के संसारी और मुक्त आदि भेद करना। तथा पुद्गल के परमाणु और स्कन्ध आदि भेद करना। यह नय वहां तक भेद करता है, जहां तक भेद हो सकते हैं।

ऋजुसूत्रनय-भूत और भावी पर्याय को छोड़कर जो वर्तमान स्थूल पर्याय को ही ग्रहण करता है उसे ऋजुसूत्रनय कहते हैं।

शब्दनय- जो नय लिंग, संख्या, कारक आदि के व्यभिचार को दूर करता है उसे शब्दनय कहते हैं। यह नय लिंगादिक के भेद से पदार्थ को भेदरूप ग्रहण करता है। जैसे-दारा (पु.) भार्या (स्त्री.) कलत्र (न.), ये तीनों शब्द भिन्न लिंग वाले होकर भी एक ही स्त्री पदार्थ के वाचक हैं परंतु यह शब्दनय स्त्रीपदार्थ को लिंग के भेद से तीन भेदरूप मानता है।

समभिरूढ़ नय- जो नय नाना अर्थों का उल्लंघन कर रूढ़ि से एक अर्थ को ग्रहण करता है उसे समभिरूढ़ नय कहते हैं। यह नय पर्याय के भेद से अर्थ को भी भेदरूप ग्रहण करता है। जैसे-इन्द्र, शक्र, पुरंदर ये तीनों शब्द इंद्र के नाम हैं, परन्तु

यह नय तीनों के भिन्न-भिन्न धर्मों की अपेक्षा भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण करता है।

एवम्भूतनय-जिस शब्द का जिस क्रियारूप अर्थ है उसी क्रियारूप परिणमे पदार्थ को जो नय ग्रहण करता है उसे एवम्भूत नय कहते हैं। जैसे-पुजारी को पूजा करते समय ही पुजारी कहना इस नय का काम है।

विशेष-इन नयों का विषय उत्तरोत्तर सूक्ष्म होता जाता है। नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीनों द्रव्यार्थिकनय हैं और शेष चार पर्यायार्थिक नय हैं। ये नय परस्पर सापेक्ष होते हैं। निरपेक्ष नय मिथ्या माने जाते हैं।

इति तत्त्वार्थसूत्रे मोक्षशास्त्रे

प्रथमोऽध्यायः समाप्तः

जीव के असाधारण स्वतत्त्व (भाव)
द्वितीय अध्याय

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य
स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च।।1।।

अर्थ -(जीवस्य) जीव के (औपशमिकक्षायिकौ) औपशमिक, क्षायिक (मिश्रः) मिश्र (च) और (औदयिकपारिणामिकौ) औदयिक और पारिणामिक पांच (स्वतत्त्वम्) स्वतत्व निजी भाव (सन्ति) हैं। ये भाव जीव को छोड़कर किसी अन्य द्रव्य में नहीं पाए जाते इसलिए इन्हें जीव के स्वतत्व कहा है। मिश्र का दूसरा नाम क्षायोपशमिक भी है।

विशेषार्थ-कर्म के उपशम से आत्मा में जो भाव होता है उसे औपशमिकभाव कहते हैं। कर्म के क्षय से जो भाव होता है। उसे क्षायिकभाव कहते हैं। कर्म के क्षयोपशम से जो भाव होता है उसे क्षायोपशमिकभाव कहते हैं। कर्म के उदय से जो भाव होता है उसे औदयिकभाव कहते हैं। कर्म के उपशम, क्षयोपशम और उदय बिना जो भाव होता है उसे पारिणामिकभाव कहते हैं।

उपशम-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त से कर्म की शक्ति के प्रगट न होने से उपशम कहते हैं। जैसे-मैले जल से मैल का निर्मली के संयोग से एक ओर बैठ जाना। क्षय-कर्म के समूल विनाश को क्षय कहते हैं। जैसे-जल से मैल के निकाल देने पर जल का सर्वथा स्वच्छ हो जाना। क्षयोपशम-सर्वधाती स्पर्धकों का उदयभावी क्षय तथा आगे उदय में आने वाले निषेकों का सत्ता में उपशम और देशघाती स्पर्धकों का उदय होने को क्षयोपशम कहते हैं। जैसे-जल में से कुछ मैल निकल जाने पर और कुछ बने रहने पर मल की क्षीणाक्षीणवृत्ति। उदय-द्रव्य, क्षेत्र,

काल और भाव के निमित्त से कर्म का फलदान के सम्मुख होना।

भावों के भेद

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम्।।2।।

अर्थ-ऊपर कहे पांचों भाव (यथाक्रमम्) क्रम से (द्विन-वाष्टा-दशैक-विंशति-त्रिभेदाः) दो, नव, अठारह, इक्कीस और तीन भेद वाले (सन्ति) हैं।

विशेषार्थ -औपशमिक भाव के दो, क्षायिक भाव के नौ, मिश्र भाव के अठारह, औदयिक भाव के इक्कीस और पारिणामिक भाव के तीन भेद होते हैं। जीव के सम्पूर्ण भाव 53 होते हैं।

औपशमिक भाव के दो भेद

सम्यक्त्वचारित्रे।।3।।

अर्थ-(समयक्त्वचारित्रे) औपशमिकसम्यक्त्व और औपशमिकचारित्र ये दो औपशमिकभाव के भेद हैं। औपशमिकसम्यक्त्व-अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यगमिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन सात कर्मप्रकृतियों के उपशम से जो सम्यक्त्व होता है उसे औपशमिकसम्यक्त्व कहते हैं। औपशमिक चारित्र-मोहनीय कर्म की शेष 21 प्रकृतियों के उपशम से जो चारित्र होता है उसे औपशमिकचारित्र कहते हैं।

क्षायिकभाव के नौ भेद

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च।।4।।

अर्थ-केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिकउपभोग, क्षायिकवीर्य, क्षायिकसम्यक्त्व और क्षायिकचारित्र ये नौ क्षायिकभाव के भेद हैं। इन नौ भावों को लब्धियां भी कहते हैं।

केवलज्ञान-जो ज्ञानावरण कर्म के क्षय से होता है। केवलदर्शन-जो दर्शनावरण कर्म के क्षय से होता है। क्षायिकदानादि पांच क्रमशः अंतरायकर्म के पांच भेदों के क्षय से होते हैं। क्षायिकसम्यक्त्व-जो सूत्र नं 3 में कही हुई सात प्रकृतियों के क्षय से होता है। क्षायिकचारित्र-जो मोहनीय कर्म की 21 प्रकृतियों के क्षय से होता है।

क्षायोपशमिकभाव के अठारह भेद

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपंचभेदाः
सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंमयमाश्च।।5।।

अर्थ-(चतुस्त्रित्रिप चभेदाः) चार, तीन, तीन और पांच भेद युक्त (ज्ञानाज्ञानदर्श -नलब्धयः) ज्ञान, अज्ञान, दर्शन, लब्ध्यिां (च) और (सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाः)

सम्यक्त्व, चारित्र वा संयमासंयम ये अठारह क्षायोपशमिकभाव के भेद हैं।

विशेषार्थ-मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्यय ये चार ज्ञान, कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ये तीन अज्ञान, क्षायोपशमिक दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पांच लब्धियां, क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-क्षायोपशमिकचारित्र ओर संयममसंयम ये अठारह क्षायोपशमिक भाव के भेद हैं। क्योंकि ये भाव अपने प्रतिपक्षी कर्म के क्षयोपशम से होते हैं।

औदयिक भाव के इक्कीस भेद

गतिकषायलिंगमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्ध-लेश्याश्चतुस्चतुस्त्रेकेकैकैके-कषड्भेदाः।।6।।

अर्थ-चारगति, चार कषाय, तीन लिंग, एक मिथ्यादर्शन, एक अज्ञान, एक असंयम, एक असिद्धत्व और छह लेश्याएं ये इक्कीस औदयिक भाव के भेद हैं।

विशेषार्थ-चार गतियां-मनुष्य, तिर्यंच, देव, नरक। चार कषाय-क्रोध, मान, माया, लोभ। तीन लिंग-स्त्रीवेद, पुरुषवेद नपुँसकवेद। एक मिथ्यादर्शन, एक अज्ञान, एक असंयम, एक असिद्धत्व सिद्धत्व, छह लेश्याएं-कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल। ये सभी भाव कर्म के उदय से होते हैं, इसलिए इन्हें औदयिक भाव कहते हैं।

पारिणामिक भाव के भेद

जीव-भव्या-भव्यत्वानि च।।7।।

अर्थ-जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन पारिणामिक भाव हैं।

नोट-इस सूत्र में आए हुए 'च' शब्द से अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व आदि सामान्य गुणों का भी ग्रहण होता है।

1. **जीवत्व** - जीव का अर्थ है चैतन्य 1 यह शक्ति आत्मा की स्वाभाविक है। इसमें कर्म के उदय आदि की अपेक्षा नहीं पड़ती इसलिए परिणामिक है।

2. **भव्यत्व**- जिस जीव में रत्नत्रय प्रकट करने की (मोक्ष जाने की) योग्यता है।

3. **अभव्यत्व**- जिस आत्मा में रत्नत्रय प्रकट करने की (मोक्ष जाने की) योग्यता नहीं है वह अभव्य है। जैसे ठर्रा-मूँग कभी सिजती नहीं ऐसे ही अभव्य कभी मोक्ष नहीं जायेगा।

जीव का लक्षण

उपयोगो लक्षणम्।।8।।

अर्थ- जीव का (लक्षणम्) लक्षण (उपयोगः) उपयोग है। चैतन्य के होने

वाले परिणाम को उपयोग कहते हैं। **लक्षण**- लक्षण का अर्थ है पहचान। बहुत से मिले हुये पदार्थों में से किसी एक पदार्थ को भिन्न दिखाने वाला हेतु लक्षण कहलाता है।

उपयोग के भेद

स द्विविधोऽष्ट चतुर्भेदः।।9।।

अर्थ-(सः) वह उपयोग (द्विविधः) ज्ञानोपयोग और दशनोपयोगरूप है। और (अष्टचतुर्भेदः) मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय, केवलज्ञान, कुमति, कुश्रुत और कुअवधि के भेद से आठ प्रकार ज्ञानोपयोगरूप तथा चक्षु दर्शन, अचक्षु दर्शन, अवधि दर्शन और केवल दर्शन के भेद से चार प्रकार का दर्शनोपयोगरूप होता है।

जीव के भेद

संसारिणो मुक्ताश्च।।10।।

अर्थ- वे जीव (संसारिणः) संसारी (च) और (मुक्तः) मुक्त दो भेद वाले हैं। कर्मसहित जीव को संसारी और कर्मरहित जीव को मुक्त कहते हैं।

संसारी जीव के भेद

समनस्कामनस्काः।।11।।

अर्थ- संसारी जीव (समनस्काः) सैनी या समनस्क तथा (अमनस्काः) असैनी या अमनस्क के भेद से दो प्रकार के होते हैं। समनस्क-मनसहित जीव। अमनस्क-मन-रहित जीव।

संसारी जीवों के अन्य प्रकार से भेद

संसारिणस्त्रस-स्थावराः।।12।।

अर्थ- (संसारिणः) संसारी जीव (त्रसस्थावराः) त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार के हैं।

पृथिव्य-प्तेजो-वायु-वनस्पतयः स्थावराः।।13।।

अर्थ-(पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः) पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक पांच (स्थावराः) स्थावर हैं। इनके एक ही स्पर्शन इन्द्रिय होती है। **स्थावर**-स्थावर नामकर्म के उदय से प्राप्त हुई जीव की अवस्था-विशेष (पर्याय) को स्थावर कहते हैं।

त्रसजीव के भेद

द्वीन्द्रिया-दयस्त्रसाः।।14।।

अर्थ- (द्वीन्द्रियादयः) द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीव (त्रसाः) त्रस कहलाते हैं। **त्रस**- त्रस नामकर्म के उदय से प्राप्त हुई जीव की

अवस्थाविशेष (पर्याय) को त्रस कहते हैं।

इन्द्रियों की संख्या व भेद

पचेन्द्रियाणि।।15।।

अर्थ- (इन्द्रियाणि) इन्द्रियां (पंच) पांच होती हैं। **इन्द्रिय**-जिससे संसारी जीव की पहिचान होती है उसे इन्द्रिय कहते हैं।

इन्द्रियों के मूल भेद

द्विविधानि।।16।।

अर्थ-इंन्द्रियां दो प्रकार की होती हैं-द्रव्य इन्द्रिय और भाव इन्द्रिय।

द्रव्येन्द्रिय का स्वरूप

निर्वृत्युप-करणे-द्रव्येन्द्रियम्।।17।।

अर्थ-निर्वृति और उपकरण को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं।

निर्वृति-नामकर्म के उदय से होने वाली रचनाविशेष को निर्वृति कहते हैं। निर्वृति के दो भेद हैं-आभ्यन्तर निर्वृति और बाह्य निर्वृति। 1. आत्मा के प्रदेशों का इन्द्रियाकार होना **आभ्यन्तर निर्वृति** कहलाती है। 2. पुद्गल के परमाणुओं का इन्द्रियाकार होना **बाह्य निर्वृति** कहलाती है।

उपकरण-निर्वृति के सहायक (उपकारक) को उपकरण कहते हैं। उपकरण के दो भेद हैं-आभ्यन्तर उपकरण और बाह्य उपकरण। जैसे-नेत्र में जो काला और सफेद मंडल है वह **आभ्यन्तर उपकरण** है और पलकें और रोम वगैरह **बाह्य उपकरण** हैं। इसी प्रकार शेष इन्द्रियों के विषय में भी जानना चाहिए।

भावेन्द्रिय का स्वरूप

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्।।18।।

अर्थ-(लब्ध्युपयोगौ) लब्धि और उपयोग को (भावेन्द्रियम्) भावेन्द्रिय कहते हैं। **लब्धि**-ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं। **उपयोग**-लब्धि के निमित्त से आत्मा का जो परिणमन होता है उसे उपयोग कहते हैं।

विशेषार्थ- जीव में देखने की शक्ति तो है किन्तु उसका उपयोग दूसरी ओर होने से वह सामने स्थित वस्तु को भी नहीं देख सकता है। इसी प्रकार किसी वस्तु को जानने की इच्छा होते हुए भी यदि क्षयोपशम नहीं हो तो ज्ञान नहीं हो सकता।

अत: ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से आत्मा में जो जानने की शक्ति प्रगट होती है वह तो लब्धि है और उसके होने पर आत्मा का पदार्थों की ओर अभिमुख

होना उपयोग कहलाता है। लब्धि और उपयोग के मिलने से ही पदार्थ का ज्ञान होता है।

इन्द्रियों के नाम

स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः-श्रोत्राणि।।19।।

अर्थ-स्पर्शन (त्वचा), रसना (जीभ), घ्राण (नाक), चक्षु (आंख) और श्रोत्र (कान) ये पांच इन्द्रियां हैं।

इन्द्रियों के विषय

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दास्-तदर्थाः।।20।।

अर्थ-(स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दाः) स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द ये पांच (तदर्थाः) इन्द्रियों के विषय हैं। अर्थात् इन्द्रियां क्रमशः इन विषयों को जानती हैं।

मन का विषय

श्रुत-मनिन्द्रियस्य।।21।।

अर्थ- (अनिन्द्रियस्य) मन का विषय (श्रुतम्) श्रुत ज्ञानगोचर पदार्थ (अस्ति) है। अथवा श्रुतज्ञान का विषयभूत पदार्थ मन का विषय है।

स्पर्शन इन्द्रिय का स्वामी

वनस्पत-यन्तानामेकम्।।22।।

अर्थ-(वनस्पत्यन्तानाम्) वनस्पतिकाय है अन्त में जिनके ऐसे पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकाये जीवों के (एकम्) एक स्पर्शन इन्द्रिय (जायते) होती है।

शेष इन्द्रियों के स्वामी

कृमि-पिपीलिका-भ्रमर-मनुष्यादीना-मेकैक-वृद्धानि।।23।।

अर्थ-(कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनाम्) लट आदि, चीटी आदि, भौंरा आदि तथा मनुष्य आदि के क्रम से (एकैकवृद्धानि) एक-एक बढ़ती हुई इन्द्रियों होती हैं। अर्थात् लट आदि के प्रारंभ की दो, चींटी आदि के तीन, भौंरा आदि के चार और मनुष्य आदि के पांचों इन्द्रियां होती हैं।

समनस्क का लक्षण

संज्ञिनः समनस्काः।।24।।

अर्थ-(समनस्काः) मनसहित जीव (संज्ञिनः) संज्ञी, सैनी या समनस्तक कहलाते हैं।

संज्ञा-हित और अहित की परीक्षा तथा गुणदोष का विचार तथा स्मरणादि

करने को संज्ञा कहते हैं।

विग्रह गति में योग

विग्रहगतौ कर्मयोगः।।25।।

अर्थ-(विग्रहगतौ) विग्रहगति में (कर्मयोगः) कार्मण काययोग होता है। उसी की सहायता से जीव एक गति से दूसरी गति में गमन करता है।

विग्रहगति- विग्रह का अर्थ शरीर है नया शरीर धारण करने के लिए गमन करने को विग्रहगति कहते हैं।

कर्मयोग-ज्ञानावरणादि कर्मों के समूह को कार्मण कहते हैं। कार्मण काययोग के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में जो कम्पन होता है उसे कर्मयोग अथवा कार्मणयोग कहते हैं। इसके द्वारा ही जीव मूलस्थान से नवीन जन्म लेने के लिए नए स्थान तक जाता है।

जीव या पुद्गल के गमन का क्रम

अनुश्रेणि गतिः।।26।।

अर्थ-(गतिः) जीव और पुद्गलों का गमन (अनुश्रेणि) आकाश के प्रदेशों की श्रेणी के अनुसार ही होता है।

श्रेणी-लोक के मध्य से लेकर ऊपर, नीचे तथा तिर्यक् दिशा में आकाश के प्रदेशों की सीधी पंक्ति (कतार) को श्रेणी कहते हैं।

नोट-जिस समय जीव मर कर नया शरीर धारण करने के लिए विग्रहगति में गमन करता है उसी का गमन विग्रहगति में श्रेणी के अनुसार होता है अन्य का नहीं।

इसी तरह जो पुद्गल का शुद्ध परमाणु एक समय में चौदह राजू गमन करता है उसी का श्रेणी के अनुसार गमन होता है सब पुद्गलों का नहीं।

मुक्तजीव की गति

अविग्रहा जीवस्य।।27।।

अर्थ-(जीवस्य) मुक्त जीव की गति (अविग्रहा) मोड़रहित सीधी (जायते) होती है।

भावार्थ-श्रेणी के अनुसार होने वाली गति के दो भेद हैं-

1. विग्रहवती (जिसमें मुड़ना पड़ता है) और 2. अविग्रहा (जिसमें मुड़ना नहीं पड़ता) इसमें से कर्मों का क्षयकर सिद्धशिला के प्रति गमन करने वाले जीवों के अविग्रहा की गति होती है।

संसारी जीवों की गति और समय

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः।।28।।

अर्थ-(संसारिणः) संसारी जीव की (गति) गति (चतुर्भ्यः प्राक्) चार समय से पहले-पहले (विग्रहवती) विग्रहवती अर्थात् मोड़सहित (च) और (अविग्रहा) मोड़रहित दोनों प्रकार की (जायते) होती है।

विशेषार्थ-संसारी जीव की गति मोड़रहित होती है और मोड़सहित भी। जो मोड़रहित होती है उसमें केवल एक समय लगता है। जिसमें एक मोड़ लेना पड़ता है उसमें दो समय, जिसमें दो मोड़ लेना पड़ता है उसमें तीन समय और जिसमें तीन मोड़ लेना पड़ते हैं उसमें चार समय लगते हैं। यह जीव चौथे समय में कहीं न कहीं नवीन शरीर नियम से धारण कर लेता है। इसलिए विग्रहगति का समय चार समय के पहले पहले तक कहा गया है। उक्त गतियों के 4 भेद हैं। ऋजुगति (इषुगति), पाणिमुक्तागति, लांगलिकागति और गोमूत्रिकागति।

अविग्रहा गति का समय

एकसमयाऽविग्रहा।।29।।

अर्थ-(अविग्रहा) मोड़रहित गति (एकसमया) एकसमय मात्र ही (जायते) होती है। उसमें एक ही समय लगता हैं।

विग्रहगति में आहारक अनाहारक की व्यवस्था

एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः।।30।।

अर्थ-(एकं द्वौ त्रीन्) विग्रहगति में जीव एक दो अथवा तीन समय तक (अनाहारकः) अनाहारक (तिष्ठति) रहता है। **आहार**-औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर तथा छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों के ग्रहण को आहार कहते हैं।

अनाहारक-जब तक जीव आहार को ग्रहण नहीं करता तब तक वह अनाहारक कहलाता है। संसारी जीव अविग्रहगति में आहारक ही होता है। किन्तु एक, दो, तीन मोड़ वाली गतियों में क्रम से एक, दो तीन समय तक अनाहारक रहता है। मोड़ समाप्त होने पर चौथे समय में नियम से आहारक हो जाता है।

जन्म में भेद

सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म।।31।।

अर्थ-(जन्म) जन्म (सम्मूर्च्छनगर्भोपपादाः) सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपाद के भेद से तीन प्रकार का (जायते) होता है।

सम्मूर्च्छन जन्म-अपने शरीर के योग्य पुद्गल परमाणुओं के द्वारा माता-

पिता के रज और वीर्य के बिना ही शरीर की रचना होने को सम्मूर्च्छन जन्म कहते हैं।

गर्भ जन्म-स्त्री के उदर में रज और वीर्य के मिलने से जो शरीर की रचना होती है। उसे गर्भ जन्म कहते हैं।

उपपाद जन्म-माता पिता के रज और वीर्य के बिना देव और नारकियों के निश्चित स्थान विशेष पर उत्पन्न होने को उपपाद जन्म कहते हैं।

योनियों के भेद

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः।।32।।

अर्थ-(सचित्तशीतसंवृताः) सचित्त, शीत, संवृत (सेतराः) इनसे उल्टी तीन अचित, उष्ण, विवृत (च) और (क्रमशः) एक एक कर (मिश्राः) क्रम से मिली हुई तीन सचित्ताचित्त, शीतोष्ण, संवृतविवृत ये नौ (तद्योनयः) उन सम्मूर्च्छन आदि जन्मों की योनियां (सन्ति) हैं।

सचित्त योनि-चेतनासहित योनि को सचित्त योनि कहते हैं।

संवृत योनि-जो किसी के देखने में नहीं आता ऐसे जीव के उत्पति-स्थान को संवृत योनि कहते हैं।

शीत योनि-शीतस्पर्श युक्त योनि को शीत योनि कहते हैं।

अचित्तयोनि - चेतना रहित उत्पत्ति स्थान को अचित्त योनि कहते हैं।

विवृतयोनि - खुले हुये उत्पत्ति स्थान को विवृत योनि कहते हैं।

उष्णयोनि - उष्ण स्पर्श से युक्त उत्पत्ति स्थान को उष्ण योनि कहते हैं।

सचित्ताचित्त योनि - सचित्त तथा अचित्त (मिश्र) उत्पत्ति स्थान को सचित्ताचित्त योनि कहते हैं।

संवृतविवृतयोनि - संवृत तथा विवृत (मिश्र) उत्पत्ति स्थान को संवृतविवृत योनि कहते हैं।

शीतोष्णयोनि - शीतस्पर्श तथा उष्ण स्पर्शयुक्त मिश्र उत्पत्ति स्थान को शीतोष्णयोनि कहते है।

गर्भ जन्म के स्वामी

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः।।33।।

अर्थ-जरायुज, अण्डज और पोतज इन तीनों प्रकार के प्राणियों के गर्भ जन्म ही होता है। अथवा गर्भ जन्म उक्त प्राणियों के ही होता है।

जरायुज-जन्म के समय प्राणी के शरीर से जाल, रूधिर और मांस की खोल सी लिपटी रहती है उसे जरायुज या जेर कहते हैं। उससे जो उत्पन्न होता है

उसे जरायुज कहते हैं। जैसे-गाय, भैंस, मनुष्य वगैरह।

अण्डज-जो जीव अण्डे से उत्पन्न होता है उसे अण्डज कहते हैं। जैसे-चील, कबूतर आदि पक्षी।

पोत-पैदा होते समय जिस जीव पर किसी प्रकार का आवरण नहीं होता और जो योनि से निकलते ही चलने फिरने लगता है उसे पोत कहते हैं। जैसे-हरिण, सिंह वगैरह।

उपपाद जन्म के स्वामी

देवनारकाणामुपपादः।।34।।

अर्थ-(देवनारकाणाम्) देवों और नारकियों के (उपपादः) उपपाद जन्म (एव) ही (जायते) होता है। अथवा उपपाद जन्म देव और नारकियों के ही होता है।

सम्मूर्च्छन जन्म के स्वामी

शेषाणां सम्मूर्च्छनम्।।35।।

अर्थ-(शेषाणाम्) गर्भ और उपपाद जन्म वालों से भिन्न जीवों के (सम्मूर्च्छनम् एवं जायते) सम्मूर्च्छन जन्म ही होता है। अथवा सम्मूर्च्छन जन्म शेष जीवों के ही होता है।

शरीरों के नाम व भेद

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि।।36।।

अर्थ-औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण ये पांच शरीर हैं। औदारिक शरीर-स्थूल शरीर (जो दूसरे को रोके और दूसरे से रूक सके) को औदारिक शरीर कहते हैं। यह मनुष्य और तिर्यंचों के होता है। वैक्रियक शरीर-जो एक, अनेक, स्थूल, सूक्ष्म, हल्का, भारी आदि अनेक प्रकार किया जा सकता है। उस शरीर को वैक्रियिक शरीर कहते हैं। यह देव और नारकियों के होता है। विक्रिया ऋद्धि इससे भिन्न है। यह औदारिक शरीर में होती है। और तपोविशेष से होती है।

आहारक शरीर-सूक्ष्म पदार्थ का निर्णय या वन्दना आदि के लिए छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनि के मस्तक से एक हाथ का जो पुतला निकलता है उसे आहारक शरीर कहते हैं।

तैजस-शरीर-औदारिक आदि शरीरों में तेज (कान्ति) देने वाले शरीर को तैजस कहते हैं।

कार्मणशरीर-ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के समूह को कार्मणशरीर कहते हैं।

शरीरों की सूक्ष्मता

परं परं सूक्ष्यम्।।37।।

अर्थ-औदारिक से (परं परम्) आगे-आगे के शरीर (सूक्ष्मम्) सूक्ष्म हैं। अर्थात् औदारिक से वैक्रियिक, वैक्रियिक से आहारक, आहारक से तैजस और तैजस से कार्मण शरीर सूक्ष्म हैं।

औदारिकादि तीन शरीरों के प्रदेश

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तैजसात्।।38।।

अर्थ-(प्रदेशतः) प्रदेशों या अंशों की अपेक्षा (तैजसात् प्राक्) तैजस शरीर से पहले-पहले के शरीर (असंख्येयगुणम्) असंख्यातगुणे-असंख्यातगुणे हैं।

विशेषार्थ-औदारिक शरीर की अपेक्षा असंख्यातगुणे प्रदेश (परमाणु) वैक्रियिक शरीर में और वैक्रियक की अपेक्षा असंख्यातगुणे प्रदेश (अंश) आहारक शरीर में होते हैं।

तैजस और कार्मण शरीर के प्रदेश

अनन्तगुणे परे।।39।।

अर्थ-(परे) शेष दो शरीर (अनन्तगुणे) अनन्तगुणे परमाणु वाले (स्तः) हैं। अर्थात् आहारक शरीर से अनन्तगुणे परमाणु तैजस शरीर में और तैजस शरीर की अपेक्षा अनन्तगुणे परमाणु कार्मण शरीर में होते हैं।

तैजस और कार्मण शरीर की विशेषता

अप्रतिघाते।।40।।

अर्थ-तैजस और कार्मण ये दोनों शरीर अप्रतिघाती (बाधारहित) हैं। अर्थात् ये दोनों समस्त लोक में किसी भी मूर्तिक पदार्थ से न स्वयं रुकते हैं और न किसी को रोकते हैं।

तैजस और कार्मण शरीर की विशेषता

अनादि सम्बन्धे च।।41।।

अर्थ-तैजस और कार्मण शरीर संसारी आत्मा के साथ अनादिकाल से सम्बन्ध रखने वाले हैं।

तैजस और कार्मण शरीर की विशेषता

सर्वस्य।।42।।

अर्थ-ये दोनों शरीर समस्त संसारी जीवों के होते हैं।

एक जीव के एक साथ हो सकने वाले शरीर

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः।।43।।

अर्थ-(तदादीनि) उन तैजस और कार्मण शरीर को आदि लेकर (युगपद्)

एक साथ (एकस्मिन्) एक जीव के (आचतुर्भ्यः) चार शरीर तक (भाज्यानि) विभक्त करना चाहिए। अर्थात् दो शरीर हो तो तैजस और कार्मण, तीन हों तो तैजस, कार्मण और औदारिक अथवा तैजस, कार्मण और वैक्रियिक तथा चार शरीर हो तो तैजस, कार्मण, औदारिक और आहारक होते हैं।

कार्मण शरीर की विशेषता

निरूपभोगमन्त्यम्।।44।।

अर्थ-(अन्त्यम्) अन्त का कार्मण शरीर (निरूपभोग्) उपभोगरहित (जायते) होता है।

उपभोग-इन्द्रियों के द्वारा शब्दादि के ग्रहण करने को उपभोग कहते हैं वह उपभोग विग्रहगति में नहीं होता है।

औदारिक शरीर का लक्षण

गर्भसम्मूर्छनजमाद्यम्।।45।।

अर्थ-(गर्भसम्मूर्छनजम्) गर्भ और सम्मूर्छन जन्म से उत्पन्न हुआ शरीर (आद्यम्) पहला औदारिक शरीर (कथ्यते) कहलाता है।

वैक्रियिक शरीर का लक्षण

औपपादिकं वैक्रियिकम्।।46।।

अर्थ-(औपपादिकम्) उपपाद जन्म से होने वाला देव, नारकियों का शरीर (वैक्रियिकम्) वैक्रियिक कहलाता है।

विशेष वैक्रियिक का लक्षण

लब्धिप्रत्ययं च।।47।।

अर्थ-वैक्रियिक शरीर लब्धिनिमित्तक भी होता है।

लब्धि-विशेष तपस्या करने से जो ऋद्धि प्राप्त होती है, उसे लब्धि कहते हैं।

तैजस शरीर की विशेषता

तैजसमपि।।48।।

अर्थ-तैजस शरीर भी लब्धिप्रत्यय (ऋद्धिनिमित्तक) होता है।

विशेषार्थ-तैजस शरीर दो प्रकार का होता है एक शरीर में ही रहकर उसको कान्ति देने वाला। जो सब संसारी जीवों के होता है। दूसरा शरीर से निकलकर बाहर जाने वाला। यह भी शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार का होता है।

आहारक शरीर का स्वामी व लक्षण

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव।।49।।

अर्थ-(आहारकम्) आहारक शरीर (शुभम्) अर्थात् शुभकार्य करने वाला (विशुद्धम्) विशुद्ध अर्थात् विशुद्ध कर्म का कार्य (अव्याघाति) व्याघात वा बाधारहित तथा (प्रमत्तसंयतस्यैव) प्रमत्तसंयत नामक छठवें गुणस्थानवर्ती मुनि के ही (जायते) होता है।

नारकियों और सम्मूर्छनों के वेद

नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि।।50।।

अर्थ-नारकी और सम्मूर्च्छन जन्म वाले नपुंसक होते हैं।

देवों के वेद

न देवाः।।51।।

अर्थ-देव नपुंसकवेदी नहीं होते। अर्थात् देवों में स्त्रीवेद और पुरुषवेद ये दो ही वेद होते हैं।

मनुष्यों और तिर्यञ्चों के वेद

शेषास्त्रिवेदाः।।52।।

अर्थ-शेष बचे हुए मनुष्य और गर्भज तिर्यञ्च तीनों वेद वाले होते हैं। भोगभूमि तथा म्लेच्छखण्ड के मनुष्यों में स्त्रीवेद और पुरुषवेद ही होते हैं।

अकालमृत्यु का अभाव

औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः।।53।।

अर्थ-उपपादजन्म वाले देव, नारकी, तद्भवमोक्षगामियों में श्रेष्ठ तीर्थंकर आदि तथा असंख्यात वर्ष की आयु वाले भोगभूमि के जीव परिपूर्ण आयु वाले होते हैं। अर्थात् इन जीवों के असमय में मृत्यु नहीं होती।

इति श्री तत्वार्थसूत्रे मोक्षशास्त्रे

द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः

अधोलोक का वर्णन

तृतीय अध्याय

सात पृथ्वियों (सात नरक) के नाम

रत्नशर्कराबालुकापंकधूमतमोमहातमः प्रभाभूमयो
घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः।।1।।

अर्थ-(रत्नशर्कराबालुकापंकधूमतमोमहातमः प्रभाः) रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमः प्रभा और महातमः प्रभा (भूमयः) ये भूमियां (सप्त) सात (सन्ति) हैं। और वे क्रम से (अधोऽधः) नीचे-नीचे (घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः) घनोदधिवातवलय, घनवातवलय, तनुवातवलय और आकाश के आधार (सन्ति) हैं।

विशेषार्थ-अधोलोक में रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमः प्रभा और महातमः प्रभा ये सात पृथ्वियाँ हैं। ये क्रम से एक के नीचे एक हैं। इनमें क्रम से धम्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवा और माघवी ये सात नरक हैं।

रत्नप्रभा पृथ्वी एक लाख अस्सी हजार महायोजन मोटी है। इसकी मोटाई के तीन भाग हैं। जिन्हें खरभाग, पंकभाग और अब्बहुलभाग कहते हैं। खरभाग सोलह हजार महायोजन मोटा है। उसमें ऊपर और नीचे एक-एक हजार महायोजन छोड़कर बीच के चौदह हजार महायोजन में असुरकुमारों और राक्षसों के सिवाय शेष सात प्रकार के भवनवासी और व्यन्तर रहते हैं। पंकभाग में असुरकुमार और राक्षस रहते हैं और अब्बहुल भाग में प्रथम नरक है।

खरभाग की मोटाई सोलह हजार महायोजन, पंकभाग की चौरासी हजार महायोजन और अब्बहुलभाग की मोटाई अस्सी हजार महायोजन है।

ये भूमियां घनोदधिवातवलय के आधार हैं, घनोदधिवातवलय घनवातवलय के आधार है। घनवातवलय तनुवातवलय के आधार है। और तनुवातवलय आकाश के आधार है। तथा आकाश अपने ही आधार है। क्योंकि आकाश सबसे बड़ा और अनन्त है। इसलिए उसका आधार कोई दूसरा नहीं हो सकता।

सात पृथ्वियों में नरकों (बिलों) की संख्या

तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्त्राणि पञ्च चैवञ्यथाक्रमम्।।2।।

अर्थ-(तासु) उन पृथ्वियों में (यथाक्रमम्) क्रम से (त्रिंशत्पञ्चविंशति पञ्चदश-दश-त्रिप चौनैकनरकशतसहस्त्राणि) तीस लाख, पच्चीस लाख, पन्द्रह लाख, दस लाख, तीन लाख, पांच कम एक लाख (च) और (पञ्चएव) पांच ही नरक बिल हैं। ये बिल जमीन में पड़े हुए ढोल की पोल के समान होते हैं। और वे गोल, चौकोण वा त्रिकोण आदि अनेक प्रकार के होते हैं।

नारकियों के लेश्यादि के दुःख

नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः।।3।।

अर्थ-नारकी जीव हमेशा ही अत्यन्त अशुभत्तर लेश्या, परिणाम, शरीर, वेदना और विक्रिया के धारक हैं।

नरकों की व्यवस्था

नं.	पृथ्वी	प्रस्तार	बिल	शरीर की ऊँचाई	लेश्या	शीतोष्ण वेदना	उत्कृष्ट आयु	जघन्य आयु
1.	रत्नप्रभा	13	30 लाख	7 धनुष 3 हाथ 6 अंगुल	जघन्य कापोत	उष्ण वेदना	1 सागर	10,000 वर्ष
2.	शर्कराप्रभा	11	25 लाख	15 ध. 2 हाथ 12 अंगुल	मध्यम कापोत	उष्ण वेदना	3 सागर	1 सागर
3.	बालुका प्रभा	9	15 लाख	31 ध. 1 हाथ	उत्कृष्ट कापोत जघन्य नील	उष्ण वेदना	7 सागर	3 सागर
4.	पंकप्रभा	7	10 लाख	62 धनुष 2 हाथ	मध्यम नील	उष्ण वेदना	10 सागर	7 सागर
5.	धूमप्रभा	5	3 लाख	125 धनुष	उत्कृष्ट नील जघन्य कृष्ण	उष्ण शीत	17 सागर	10 सागर

6.	तम प्रभा	3	99995	250 धनुष	मध्यम कृष्ण	महाशीत	22 सागर	17 सागर
7.	महातम प्रभा	1	5	500 धनुष	उत्कृष्ट कृष्ण	महाशीत	33 सागर	22 सागर

लेश्या का क्रम सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ के अनुसार है।

नरकों में पारस्परिक दुःख

परस्परोदीरितदुःखा।।4।।

अर्थ-नारकी जीव आपस में एक दूसरे को दुःख देते हैं और वे कुत्तों की तरह परस्पर में लड़ते हैं।

नोट-नरकों में भयानक दुःख और चीर फाड़ होने पर भी असमय में मृत्यु नहीं होती।

नरकों में असुरकुमार देवों का दुःख

संक्लिष्टासुरोदरीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः।।5।।

अर्थ-(च) और (चतुर्थ्या प्राक्) चौथी पृथ्वी से पहले अर्थात् तीसरी पृथ्वी पर्यन्त (ते) वे नारकी (संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाः) संक्लेश परिणाम वाले अम्ब और अम्बावरीष जाति के असुरकुमार देवों के द्वारा उत्पन्न किया गया है दुःख जिनको ऐसे (भवन्ति) होते हैं। अर्थात् तीसरे नरक तक जाकर अम्ब और अम्बावरीष जाति के असुरकुमार उन्हें पूर्व का वैर स्मरण दिलाकर आपस में लड़ाते हैं और उन्हें दुःखी देखकर प्रसन्न होते हैं इनके इसी प्रकार की कषाय का उदय रहता है।

नारकियों की उत्कृष्ट आयु

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्शिंत्सागरोपमा सत्वानां परा स्थितिः।।6।।

अर्थ-(तेषु) उन नरकों में (सत्त्वानाम्) नारकी जीवों की (परास्थितिः) उत्कृष्ट आयु (क्रमशः) क्रम से (एकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा) एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दस सागर, सत्रह सागर, बाईस सागर और तैंतीस सागर है।

मध्यलोक का वर्णन

सम्पूर्ण द्वीप समुद्रों के नाम

जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः।।7।।

अर्थ-इस मध्यश्लोक में (शुभनामानः) अच्छे अच्छे नाम वाले (जम्बूद्वीपलवणोदादयः द्वीपसमुद्राः) जम्बूद्वीप आदि द्वीप और लवणसमुद्र आदि समुद्र (सन्ति) हैं।

भावार्थ-सबके बीच में थाली के आकार का जम्बूद्वीप है। उसके चारों तरफ लवण समुद्र है, उसके चारों तरफ धातकीखण्ड द्वीप है, उसके चारों तरफ कालोदधि समुद्र है, उसके चारों ओर पुष्करवर द्वीप है, उसके चारों तरफ पुष्करवर समुद्र है। इस प्रकार एक दूसरे को घेरे हुए असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं।

अन्त के द्वीप का नाम स्वयम्भूरमणद्वीप और समुद्र का नाम स्वयंभूरमणसमुद्र है।

द्वीप और समुद्रों का विस्तार और आकार

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्व परिक्षेपिणो वलयाकृतयः।।8।।

अर्थ-प्रत्येक द्वीप समुद्र दूने-दूने विस्तार वाले, पहले-पहले के द्वीप समुद्र को घेरे तथा चूड़ी के समान आकार वाले हैं।

द्वीप से समुद्र का और समुद्र से द्वीप का विस्तार दुगुना है। तथा द्वीप से द्वीप का और समुद्र से द्वीप का विस्तार चौगुना है। इस प्रकार तीसरे द्वीप का विस्तार 16 लाख महायोजन और तीसरे समुद्र का विस्तार 32 लाख महायोजन है।

जम्बूद्वीप का विस्तार और आकार

तन्मध्ये मेरूनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्त्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः।।9।।

अर्थ-(तन्मध्ये) उन सब द्वीपसमूहों के बीच में (मेरूनाभिः) सुदर्शन मेरू है नाभि जिसकी ऐसा तथा (वृतः) थाली के समान गोल (योजनशतसहस्त्रविष्कम्भः) एक लाख योजन विस्तार वाला (जम्बूद्वीपः) जम्बूद्वीप (अस्ति) है।

क्षेत्रों के नाम

भरत-हैमवत-हरि-विदेह-रम्यक-हैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि।।10।।

अर्थ-जम्बूद्वीप में भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं।

क्षेत्रों का विभाग करने वाले छह कुलाचलों के नाम

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरूक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः।।11।।

अर्थ-(तद्विभाजिनः) उन सात क्षेत्रों का विभाग करने वाले (पूर्वापरायताः) पूर्व से पश्चिम तक लम्बे (हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरूक्मिशिखरिणः) हिमवत्, महाहिमवत्, निषध, नील, रूक्मि और शिखरिन ये छह (वर्षधरपर्वताः) वर्षधर (कुलाचल) पर्वत हैं। वर्ष (क्षेत्रों) के विभाग को बनाए रखने के कारण इन्हें वर्षधर कहते हैं।

कुलाचलों के वर्ण (रंग)

हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः।।12।।

अर्थ-ये पर्वत क्रम से सुवर्ण, चांदी, तपाए हुए सुवर्ण, वैडूर्य (नील) मणि,

चांदी और सुवर्ण के समान वर्ण वाले हैं। किन्तु ये सुवर्ण आदिक के नहीं है।

पर्वतों की विशेषता

मणिविचित्रपार्श्वाउपरि मूले च तुल्यविस्तारा:।।13।।

अर्थ-ये पर्वत (मणिविचित्रपार्श्वा:) दोनों पार्श्वों (बाजुओं) में तरह तरह के मणियों से खचित (उपरि मूले च) ऊपर, नीचे और मध्य में (तुल्यविस्तारा:) एक समान (बराबर) विस्तार वाले (सन्ति) हैं।

पर्वतों पर स्थित तालाबों के नाम

पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेशरिमहापुण्डरीकपुण्डरीकाह्रदास्तेषामुपरि।।14।।

अर्थ-(तेषाम् उपरिते) उन पर्वतों के ऊपर (क्रमश:) क्रम से (पद्ममहापद्म-तिगिञ्छ-केशरि-महापुण्डरीक पुण्डरीका:) पद्म, महापद्म, तिगिञ्छ, केशरिन्, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ये (ह्रदा:) सात तालाब (सन्ति) हैं।

प्रथम तालाब की लम्बाई-चौड़ाई

प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो ह्रद:।।15।।

अर्थ-(प्रथम: ह्रद:) पहला तालाब (योजनस्रायाम:) एक हजार महायोजन लम्बा और (तदर्द्धविष्कम्भ:) लम्बाई से आधा (पांच सौ महायोजन) चौड़ा (विद्यते) है।

प्रथम तालाब की गहराई

दशयोजनावगाह:।।16।।

अर्थ-पहला तालाब दस महायोजन गहरा है।

प्रथम तालाब का कमल

तन्मध्ये योजनं पुष्करम्।।17।।

अर्थ-(तन्मध्ये) प्रथम पद्म सरोवर के बीच (योजनम्) एक योजन लम्बा और चौड़ा (पुष्करम्) एक कमल (अस्ति) है। यह कमल वनस्पतिकाय का नहीं है। किन्तु कमल के आकार की पृथ्वी है। अर्थात् यह कमल पृथ्वी काय का है।

तालाबों का विस्तार आदि

ह्रद का नाम	स्थान	लंबाई योजन	चौड़ाइ योजन	गहराई योजन	कमल योजन	देवी
पद्म	हिमवन्	1000	500	10	1	श्री
महापद्म	महाहिमवन्	2000	1000	20	2	ह्री
तिगिञ्छ	निषध	4000	2000	40	4	धृति
केशरिन्	नील	4000	2000	40	4	कीर्ति
महापुण्डरीक	रूक्मिन	2000	1000	20	2	बुद्धि
पुण्डरीक	शिखरिन्	1000	500	10	1	लक्ष्मी

तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च।।18।।

अर्थ-(ह्रदाः पुष्कराणि च) आगे के तालाब और कमल क्रम से (तद्द्विगुणद्विगुणाः) प्रथम तालाब से तथा उसके कमलों से दूने दूने विस्तार वाले (सन्ति) हैं।

विशेष-दूने-दूने का क्रम तिगिञ्छ नामक तीसरे तालाब तक ही है। उसके आगे तीन तालाब और तीन कमल दक्षिण के तालाबों और कमलों के समान विस्तार वाले हैं।

कमलों पर निवास करने वाली देवियाँ

तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिकपरिषत्काः।।19।।

अर्थ-(पल्योपमस्थितयः) एक पल्य की आयु वाली तथा (ससामानिकपरिषत्काः) सामानिक और पारिषद जाति के देवों से सहित (श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः) श्री ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नामक (देव्यः) देवियाँ (क्रमशः) क्रम से (तन्निवासिन्यः) उन सरोवरों के कमलों पर निवास करती हैं।

चौदह महा नदियों के नाम

गंगासिन्धुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदानारीनरकान्ता सुवर्णरूप्यकूला रक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः।।20।।

अर्थ-गंगा, सिन्धु, रोहित, रोहितास्या, हरित, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा ये चौदह नदियाँ जम्बूद्वीप के पूर्वोक्त 7 क्षेत्रों के बीच बहती हैं।

विशेष-पहले पद्म नामक तालाब से गंगा, सिन्धु, रोहितास्या तथा छठवें पुण्डरीक नामक तालाब से रक्ता, रक्तोदा और सुवर्णकूला ये तीन तीन नदियां निकली हैं। तथा शेष सरोवरों से क्रमशः दो दो नदियां निकली हैं।

नदियों और क्षेत्रों का क्रम इस प्रकार है-भरत में-गंगा, सिन्धु, हैमवत में-रोहित-रोहितास्या, हरि में हरित-हरिकान्ता, विदेह में-सीता-सीतोदा, रम्यक में-नारी-नरकान्ता, हैरण्यवत में सुवर्णकूला-रूप्यकूला तथा ऐरावत में रक्ता और रक्तोदा नदियां बहती हैं।

पूर्व की ओर बहने वाली नदियाँ

द्वयो र्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः।।21।।

अर्थ-(द्वयोः द्वयोः) गंगा सिन्धु इत्यादि दो दो नदियों में से (पूर्वाः)

पहली-पहली नदी (पूर्वगाः) पूर्व समुद्र को जाती है। अर्थात् गंगा, रोहित, हरित्, सीता, नारी, सुवर्णकूला और रक्ता ये सात नदियां पूर्व-समुद्र में जाकर मिलती हैं।

पश्चिम की ओर बहने वाली नदियाँ

शेषास्त्वपरगाः।।22।।

अर्थ-(शेषाः) प्रत्येक जोड़े की दूसरी-दूसरी नदियां (अपरगाः) पश्चिम की ओर जाती हैं। अर्थात् सिन्धु, रोहितास्या हरिकान्ता, सीतोदा, नरकान्ता, रूप्यकूला और रक्तोदा ये सात नदियां पश्चिम समुद्र में जाकर मिलती हैं।

महानदियों की सहायक नदियाँ

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गंगासिन्ध्वादयो नद्यः।।23।।

अर्थ-(गंगासिन्ध्वादयो नद्यः) गंगा और सिन्धु आदि नदियों के युगल (चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता) चौदह हजार सहायक नदियों से घिरे हुए हैं।

विशेष-सहायक नदियों का क्रम भी विदेहक्षेत्र तक आगे आगे के युगलों में पूर्व के युगलों से दूना-दूना है। और उत्तर के तीन क्षेत्रों में दक्षिण के तीन क्षेत्रों के समान है।

भरत क्षेत्र का विस्तार

भरतः षड्विंशतिपञ्चयोजनशतविस्तारः षट् चैकोनविंशतिभागा योजनस्य।।24।।

अर्थ-(भरतः) भरतक्षेत्र (षड्विंशतिपञ्चयोजनशतविस्तारः) पांच सौ छब्बीस योजन विस्तार वाला (च) और (योजनस्य) एक योजन के (एकोनविंशतिभागः) उन्नीस भागों में से (षट्) छह ळभाग अधिक है।

भावार्थ-भरत क्षेत्र का दक्षिण से उत्तर तक विस्तार $526\frac{6}{19}$ योजन है।

द्वितीयादिक क्षेत्रों और पर्वतों का विस्तार

तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः।।25।।

अर्थ-(विदेहान्ताः) विदेहक्षेत्र पर्यन्त के (वर्षधरवर्षः) पर्वत और क्षेत्र (तद्विगुणद्विगुणा) भरतक्षेत्र से दूने-दूने विस्तार वाले (सन्ति) हैं।

विदेहक्षेत्र से आगे के पर्वतों और क्षेत्रों का विस्तार

उत्तरा दक्षिणतुल्याः।।26।।

अर्थ-(उत्तराः) उत्तर के ऐरावत से लेकर नील तक जितने क्षेत्र और पर्वत आदि हैं उनका विस्तार वगैरह (दक्षिणतुल्याः) दक्षिण के क्षेत्र और पर्वत आदि के समान (सन्ति) है। इसका खुलासा इस प्रकार है।

क्षेत्रों और पर्वतों का विस्तार

क्रम	क्षेत्र	विस्तार योजन	क्रम	पर्वत	विस्तार योजन
1.	भरत	526,6	1	हिमवत्	1052,12
2.	हैमवत	2105,5	2	महाहिमवत्	4210,10
3.	हरि	8421,1	3	निषध	16842,2
4.	विदेह	33684,4	4	नील	16842,2
5.	रम्यक	8142,1	5	रूक्मि	4210,10
6.	हैरण्यवत	2105,5	6	शिखरी	1052,12
7.	ऐरावत	526,6	7	0	0

योग-100,000 एक लाख महायोजन।

विशेष-अलग दिखाए गए अंकों से योजन के 19 हिस्सों में से उतने (भाग) जानना।

भरत और ऐरावत क्षेत्र में कालचक्र का परिवर्तन

भरतैरावतयो वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसिर्पिणीभ्याम्।।27।।

अर्थ-(षट्समयाभ्याम्) छह कालों से युक्त (उत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्) उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के द्वारा (भरतैरावतयोः) भरत और ऐरावत क्षेत्र में (वृद्धिाह्रसौ) जीवों की आयु, ऊँचाई, भोगोपभोग, सम्पदा और सुख आदि की घटती तथा बढ़ती (जायते) होती है।

विशेषार्थ-बीस कोड़ा कोड़ी सागर वर्ष का एक कल्पकाल होता है। उसके दो भेद हैं। उत्सर्पिणी-जिसमें जीवों की आयु आदि की क्रमशः वृद्धि होती हैं। सुषमासुषमा, सुषमा, सुषमादुषमा, दुःषमासुषमा, दुःषमा और अतिदुःषमा। इसी प्रकार उत्सर्पिणी के भी अतिदुःषमा को आदि लेकर छह भेद हैं।

सुषमासुषमा-चार कोड़ाकोड़ी सागर का, सुषमा-तीन कोड़ा कोड़ी सागर का, सुषमादुःषमा-दो कोड़ाकोड़ी सागर का, दुःषमासुषमा ब्यालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ा कोड़ी सागर वर्ष का, दुःषमा-इक्कीस हजार वर्ष का, अतिदुःषमा-इक्कीस हजार वर्ष का होता है।

भरत और ऐरावत क्षेत्र में इन छह भेदों सहित उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी का परिवर्तन होता रहता है। असंख्यात अवसर्पिणी बीत जाने के बाद एक हुण्डावसर्पिणी काल होता है। अभी हुण्डावसर्पिणी काल चल रहा है।

विशेषार्थ-भरत और ऐरावत क्षेत्र के म्लेच्छा खण्डों तथा विजयार्द्ध पर्वत

की श्रेणियों में अवसर्पिणी काल के चतुर्थ काल के आदि से लेकर अन्त तक परिवर्तन होता है और उत्सर्पिणी काल के समय तृतीयकाल के अन्त से लेकर आदि तक परिवर्तन होता है। इनमें आर्यखण्डों की तरह छहों कालों का परिवर्तन नहीं होता और न इनमें प्रलयकाल ही पड़ता है।

अन्यभूमियों की काल-व्यवस्था

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः।।28।।

अर्थ-(ताभ्याम्) उन भरत और ऐरावत से (अपराः) अन्य (भूमयः) क्षेत्र (अवस्थिताः) घटती बढ़ती रहित (भवन्ति) होते हैं। उनमें काल का परिवर्तन अथवा हानि और वृद्धि नहीं होती।

हैमवत आदि क्षेत्रों में आयु

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरवकाः।।29।।

अर्थ-हैमवत, हरि और देवकुरू (विदेहक्षेत्र के अन्तर्गत एक विशेष स्थान) के निवासी मनुष्य वा तिर्यञ्चों की आयु क्रम से एक पल्य और तीन पल्य की होती है।

हैरण्यवत आदि क्षेत्रों में आयु

तथोत्तराः।।30।।

अर्थ-उत्तर के क्षेत्रों में मनुष्यों और तिर्यञ्चों की आयु हैमवत आदि क्षेत्रों के मनुष्यों वा तिर्यञ्चों के समान होती है।

विशेषार्थ- हैरण्यवत क्षेत्र में आयु हैमवत क्षेत्र के समान, रम्यक क्षेत्र में आयु हरिक्षेत्र के समान तथा उत्तरकुरू में आयु देवकुरू के समान होती है।

इस प्रकार उत्तम, मध्यम और जघन्य रूप तीनों भोगभूमियों के दो-दो क्षेत्र हैं। जम्बूद्वीप में छह भोगभूमियाँ और अढ़ाई द्वीप में कुल 30 भोगभूमियां हैं। जिसमें सब तरह की भोगोपभोग की सामग्री कल्पवृक्षों से प्राप्त होती है अथवा जहां भोगों की ही प्रधानता होती हो उसे भोगभूमि कहते हैं।

विदेहक्षेत्र में आयु

विदेहेषु संख्येयकालाः।।31।।

अर्थ-(विदेहेषु) विदेहक्षेत्र में मनुष्यों और तिर्यञ्चों की आयु (संख्येय-कालाः) संख्यात वर्ष की होती है। विदेहक्षेत्र में ऊँचाई पांच सौ धनुष और आयु एक करोड़ पूर्व की होती है।

भरतक्षेत्र का विस्तार

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः।।32।।

अर्थ- (भरतस्य विष्कम्भः) भरत क्षेत्र का विस्तार (जम्बूद्वीपस्य) जम्बूद्वीप के (नवतिशतभागः) एक सौ नब्बे वां भाग (अस्ति) है।

विशेषार्थ : 24वें सूत्र में भरतक्षेत्र का विस्तार बतलाया है उसमें और इसमें कोई अन्तर नहीं हैं। केवल कथन करने का प्रकार दूसरा है। यदि एक लाख के बराबर-बराबर एक सौ नब्बे हिस्से किए जावे तो उनमें हर एक हिस्से का प्रमाण $526\frac{6}{19}$ योजन होता है।

धातकीखण्ड द्वीप का वर्णन

द्विर्धातकीखण्डे ।।33।।

अर्थ-धातकीखण्ड नामक दूसरे द्वीप में क्षेत्र, कुलाचल, मेरू, नदी आदि समस्त पदार्थ जम्बूद्वीप से दूने दूने हैं।

पुष्कर द्वीप का वर्णन

पुष्करार्धे च।।34।।

अर्थ-पुष्कर द्वीप के आधे भाग में भी क्षेत्र और पर्वत आदिक की सब रचना जम्बूद्वीप से दूनी दूनी है।

विशेष-पुष्करवर द्वीप का विस्तार 16 लाख योजन है। उसके ठीक बीच में चूड़ी के आकार मानुषोत्तर पर्वत है। जिससे इस द्वीप के दो हिस्से हो गए हैं। पूर्वार्ध में सब रचना धातकीखण्ड के समान है और जम्बूद्वीप से दूनी है। इस द्वीप के उत्तरकुरू में एक पुष्कर (कमल) है। इसलिए इस द्वीप को पुष्करवर कहते हैं।

मनुष्य क्षेत्र

प्रा मानुषोत्तरान्मनुष्याः।।35।।

अर्थ-(मानुषोत्तरात् प्राक्) मानुषोत्तर पर्वत के पहले अर्थात् अढ़ाई द्वीप में ही **(मनुष्याः)** मनुष्य **(सन्ति)** होते हैं। मानुषोत्तर पर्वत के आगे ऋद्धिधारक मुनि तथा विद्याधर भी नहीं जा सकते।

मनुष्य के भेद

आर्याम्लेच्छाश्च।।36।।

अर्थ- मनुष्य के दो भेद हैं-आर्य और म्लेच्छ।

अर्थ- जो अनेक गुणों से सम्पन्न होता हैं तथा गुणी पुरुष जिसकी सेवा करते हैं उसे आर्य कहते हैं। जो आचार विचार से भ्रष्ट होता है तथा जिसे धर्म कर्म का कुछ विवेक नहीं होता उसे म्लेच्छ कहते हैं।

कर्मभूमि के भेद

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरूभ्यः।।37।।

अर्थ-पांचों मेरूसंबंधी पांच भरत, पांच ऐरावत और देवकुरू-उत्तरकुरू को छोड़कर पांच विदेह। इस तरह अढ़ाई द्वीप में कुल पन्द्रह कर्मभूमियां हैं।

कर्मभूमि-जहां पर असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, विद्या और शिल्प इन छह कर्मों द्वारा आजीविका की जाती है या जहां बड़े से बड़ा पापकर्म तथा बड़े से बड़ा पुण्यकर्म अर्जित किया जाता हैं उसे कर्मभूमि कहते हैं।

मनुष्य की उत्कृष्ट और जघन्य आयु

नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते।।38।।

अर्थ-मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य और जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त की है।

तिर्यञ्चों की आयु

तिर्यग्योनिजानां च।।39।।

अर्थ-तिर्यञ्चों की भी उत्कृष्ट और जघन्य आयु क्रम से तीन पल्य और अन्तर्मुहूर्त की हैं।

इति तत्वार्थसूत्रे मोक्षशास्त्रे तृतीयोऽध्यायः समाप्तः।।3।।

देवों के भेद

चतुर्थ अध्याय

देवों के भेद

देवाश्चतुर्णिकाया:।।1।।

अर्थ-(देवा:) देव (चतुर्णिकाया:) चार निकाय (जाति) वाले हैं, अर्थात् देवों के चार भेद हैं। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक।

देव-देवगति नामकर्म के उदय से जो नाना द्वीप, समुद्र तथा पर्वत आदि रमणीय स्थानों में क्रीड़ा करते हैं। उन्हें देव कहते हैं।

भवनत्रिक देवों के लेश्या का विभाग

आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्या:।।2।।

अर्थ-(आदितस्त्रिषु) पहले के तीन निकायों में (पीतान्तलेश्या:) पीतान्त अर्थात्, कृष्ण, नील, कापोत और पीत ये चार लेश्याएं होती हैं। यह वर्णन भावलेश्या का है।

विशेषार्थ - भवनवासी व्यंतर तथा ज्योतिषी देवों में अपर्याप्त अवस्था में तीन अशुभ लेश्याएँ और पीत लेश्या तथा पर्याप्त अवस्था में एक पीत लेश्या होती है। विशेषता इस प्रकार है। कृष्ण नील कापोत लेश्या के मध्यम अंश से मरे हुए कर्मभूमियाँ मिथ्यादृष्टि मनुष्य व तिर्यंच व पीत लेश्या के मध्यम अंश से मरे हुए भोगभूमिया मिथ्यादृष्टि मनुष्य व तिर्यंच भवनत्रिक में उत्पन्न होते है।

चार निकायों के देवों के विशेष प्रभेद

दशाष्टपञ्चद्वादश-विकल्पा: कल्पोपन्न-पर्यन्ता:।।3।।

अर्थ-(कल्पोपपन्नपर्यन्ता:) सोलहवें स्वर्ग तक के उक्त चार प्रकार के देवों के (दशाष्ट पञ्चद्वादशविकल्पा:) क्रम से दश, आठ, पांच और बारह भेद हैं।

चार प्रकार के देवों के सामान्य भेद

इन्द्रसा-मानिकत्रा-यस्त्रिंश-पारिषदात्मर-क्षलोक-पालानीक-प्रकीर्ण-काभियोग्य-किल्विषिकाश्-चैकशः।।4।।

अर्थ-चार प्रकार के देवों में प्रत्येक के इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक ये दस-दस भेद होते हैं।

इन्द्र-दूसरे देवों में नहीं रहने वाली अणिमा आदि ऋद्धियों से परमैश्वर्य को प्राप्त देवों के स्वामी को इन्द्र कहते हैं।

सामानिक-आयु, शक्ति, परिवार, भोग, उपभोग आदि में इन्द्र के समान किन्तु आज्ञारूप ऐश्वर्य से रहित देवों को सामानिक कहते हैं।

त्रायस्त्रिंश-जो देव, पिता, मंत्री, पुरोहित या गुरु के समान होते हैं उन देवों को त्रायस्त्रिंश कहते हैं। एक इन्द्र की सभा में ये तैंतीस ही होते हैं। इसलिए इन्हें त्रायस्त्रिंश कहते हैं।

पारिषद्-इन्द्र की सभा के सदस्य देव जो मित्र अथवा प्रेमी जनों के समान हैं उन्हें पारिषद् कहते हैं।

आत्मरक्ष-अंगरक्षक के समान देवों को आत्मरक्ष कहते हैं। **लोकपाल**-कोतवाल के समान देवों को लोकपाल कहते हैं।

अनीक- पैदल आदि सात प्रकार की सेना में विभक्त देवों को अनीक कहते हैं। **प्रकीर्णक**-नगर-निवासी जनता के समान देवों को प्रकीर्णक कहते हैं।

आभियोग्य-हाथी घोड़ा आदि बनकर दासों के समान सवारी आदि के काम आने वाले देवों को आभियोग्य कहते हैं।

किल्विषिक-चाण्डालादि की भांति दूर ही रहने वाले पापी देवों को किल्विषिक कहते हैं।

ये भेद प्रत्येक निकाय में होते हैं और इन्द्र के ऐश्वर्य के द्योतक (सूचक) हैं।

व्यन्तरों और ज्योतिषियों में दस भेदों में कमी

त्रायस्त्रिंश-लोकपाल-वर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः।।5।।

अर्थ-(व्यन्तर-ज्योतिष्काः) व्यन्तर और ज्योतिष्क देवों में (त्रायस्त्रिंश-लोकपाल-वर्ज्या) त्रायस्त्रिंश और लोकपाल ये दो भेद नहीं होते। शेष आठ भेद ही होते हैं।

देवों में इन्द्रों की व्यवस्था

पूर्वयो-र्द्वीन्द्राः।।6।।

अर्थ- (पूर्वयोः) पूर्व के दो भेदों में अर्थात् भवनवासी और व्यन्तरों के प्रत्येक भेद में (द्वीन्द्राः) दो-दो इन्द्र होते हैं।

विशेषार्थ- भवनवासियों के दस भेदों में बीस और व्यन्तरों के आठ भेदों में सोलह इन्द्र होते हैं। तथा दोनों में इतने ही प्रतीन्द्र होते हैं।

देवों में कामसेवन की विधि

काय-प्रवीचारा आ ऐशानात्।।7।।

अर्थ-(आ ऐशानात्) ईशान स्वर्ग पर्यन्त के देव अर्थात् भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और पहले तथा दूसरे स्वर्ग के देव (कायप्रवीचारा) अपनी अपनी देवियों के साथ मनुष्यों के समान शरीर से कामसेवन (मैथुन) करते हैं।

शेष स्वर्गों के देवों में कामसेवन की रीति

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनः प्रवीचाराः।।8।।

अर्थ-शेष स्वर्गों के देव देवियों के स्पर्श से, रूप देखने से, शब्द सुनने से और मन में विचारने से कामसेवन करते हैं।

अर्थात्-तीसरे और चौथे स्वर्ग के देव-देवियों के स्पर्श से, पांचवे, छठवें, सातवें और आठवें स्वर्ग के देव देवियों का रूप देखने से, नौवें, दसवें, ग्यारवें और बारहवें स्वर्ग के देव देवियों के गीत वगैरह के शब्द सुनने से तथा तेरहवें, चौदहवें, पन्द्रहवें और सोलहवें स्वर्ग के देव देवियों का मन में विचार करने मात्र से तृप्त हो जाते हैं। उनकी कामेच्छा शांत हो जाती है।

कल्पातीतों में मैथुन का निषेध

परेऽप्रवीचाराः।।9।।

अर्थ-सोलहवें स्वर्ग से ऊपर ग्रैवेयक, अनुदिश और 5 अनुत्तरों के देवों में कामसेवन नहीं होता। उनके कामेच्छा ही उत्पन्न नहीं होती और वहां देवियां भी नहीं होती हैं।

भवनवासियों के दस भेद

भवनवासिनोऽसुर-नाग-विद्युत्-सुपर्णाग्नि-वात-स्तनितोदधि-द्वीपदिक्कुमाराः।।10।।

अर्थ-भवनवासी देवों के दश भेद हैं। असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार।

इनके वेषभूषा और वार्तालाप वगैरह कुमारों की तरह होते हैं इससे इन्हें

कुमार कहते हैं। ये देव भवनों में निवास करते हैं इसलिए इन्हें भवनवासी कहते हैं।

व्यन्तर देवों के आठ भेद

व्यन्तराः किन्नर-किम्पुरुष-महोरग-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-भूतपिशाचाः।।11।।

अर्थ-व्यन्तर देवों के आठ भेद हैं। किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच। विविध स्थानों के निवासी होने के कारण इन्हें व्यन्तर कहते हैं।

ज्योतिषी देवों के पांच भेद

ज्योतिष्काः सूर्या-चन्द्रमसौ-ग्रह-नक्षत्र-प्रकीर्णक-तारकाश्च।।12।।

अर्थ- ज्योतिषी देव पांच प्रकार के हैं-सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे। ये सब चमकीले होते हैं, इसलिए इन्हें ज्योतिष्क कहते हैं।

विशेष- ज्योतिषी देवों का निवास मध्यलोक में सम धरातल से 790 महायोजन की ऊँचाई से लेकर 900 महायोजन की ऊँचाई तक 110 महायोजन आकाश में है।

ज्योतिषी देवों का गमन

मेरुप्रदक्षिणा नित्य-गतयो नृ-लोके।।13।।

अर्थ- ज्योतिषी देव (नृलोके) मनुष्य लोक में (मेरूप्रदक्षिणा) मेरू पर्वत की प्रदक्षिणा देते हुए (नित्यगतयः) हमेशा घूमते रहते हैं।

ज्योतिषी देवों से लाभ

तत्कृतः काल-विभागः।।14।।

अर्थ- (कालविभागः) घड़ी घण्टा दिन रात आदि व्यवहारकाल का विभाग (तत्कृतः) उन्हीं गतिशील ज्योतिषी देवों के द्वारा किया जाता है। अर्थात् व्यवहारकाल सूर्य, चन्द्रमा आदि की गति से ही माना जाता है।

मनुष्य लोक के बाहर ज्योतिषी देवों की स्थिति

बहिरवस्थिताः।।15।।

अर्थ- मनुष्यलोक (अढ़ाई द्वीप) के बाहर के ज्योतिषी देव स्थिर हैं। वे गमन नहीं करते।

वैमानिक देवों का वर्णन

वैमानिकाः।।16।।

अर्थ-अब यहां वैमानिक देवों का वर्णन शुरू होता है।

विमान-जिसमें रहने वाले जीव विशेष पुण्यशाली माने जाते हैं उसे

विमान कहते हैं। विमान में पैदा होने वाले देवों को वैमानिक देव कहते हैं।

वैमानिक देवों के भेद

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च।।17।।

अर्थ- वैमानिक देवों के दो भेद हैं। कल्पोपपन्न और कल्पातीत। कल्पोपन्न जिनमें इन्द्र आदि दश भेदों की कल्पना होती है ऐसे सोलह स्वर्गों को कल्प कहते हैं। उनमें जो पैदा होते है उन्हें कल्पोपपन्न कहते हैं कल्पातीत-जो सोलहवें स्वर्ग से आगे (ऊपर) पैदा होते हैं उन्हें कल्पातीत कहते हैं।

कल्पों की स्थिति का क्रम

उपर्युपरि।।18।।

अर्थ-सोलह स्वर्गों के आठ युगल, नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पांच अनुत्तर ये सब विमान क्रम से ऊपर-ऊपर हैं।

वैमानिक देवों के रहने का स्थान

सौधर्मैशान-सानत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्म-ब्रह्मोत्तरलान्तव कापिष्ठ-शुक्र-महाशुक्र-शतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयो-रारणाच्युतयो-र्नवसु ग्रैवेयकेषु विजय-वैजयन्त-जयन्ता-पराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च।।19।।

अर्थ-सौधर्म-ऐशान, सानत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्त्रार इन छह युगलों के बारह स्वर्गों में, आनत-प्राणत इन दो स्वर्गों में, आरण-अच्युत इन दो स्वर्गों में, नव ग्रैवेयको में, नव अनुदिशों में और विजय, वैजयन्त, जयंत, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि इन पांच अनुत्तर विमानामें में ये वैमानिक देव रहते हैं।

नोट-इस सूत्र में यद्यपि अनुदिश विमानों का पाठ नहीं हैं तथापि 'नवसु' इस पद से उनका ग्रहण कर लेना चाहिए।

वैमानिक देवों में उत्तरोत्तर अधिकता

स्थिति-प्रभाव-सुख-द्युति-लेश्या-विशुद्धीन्द्रियावधि-विषयतोऽधिकाः।।20।।

अर्थ-आयु, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्या की विशुद्धता, इन्द्रियों का विषय और अवधिज्ञान का विषय ये सब ऊपर-ऊपर के विमानों (वैमानिक देवों) में अधिक-अघिक हैं।

वैमानिक देवों में उत्तरोत्तर हीनता

गति-शरीर-परिग्रहाभिमानतो हीनाः।।21।।

अर्थ-वैमानिक देवों का गमन, शरीर की ऊँचाई परिग्रह और अभिमान की अपेक्षा ऊपर-ऊपर कम होता जाता है।

नोट-सोलहवें स्वर्ग से आगे के देव अपने विमान को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाते।

वैमानिक देवों में लेश्या का वर्णन

पीत-पद्म-शुक्ल-लेश्या द्वित्रि-शेषेषु।।22।।

अर्थ-(द्वित्रिशेषेषु) दो युगलों में, तीन युगलों में तथा शेष के समस्त विमानों में क्रम से (पीतपद्मशुक्ललेश्या) पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याएं होती हैं।

विशेषार्थ- पहले और दूसरे स्वर्ग में पीतलेश्या, तीसरे और चौथे स्वर्ग में पीत तथा पद्मलेश्या, पांचवे छठवें, सातवें, आठवें स्वर्ग में पद्मलेश्या, नौवें, दशवें, ग्यारहवें और बारहवें स्वर्ग में पद्म और शुक्ललेश्या तथा शेष समस्त विमानों (स्वर्गों) में शुक्ल लेश्या होती है। ग्रैवेयक, अनुदिश और अनुत्तर विमानों में परमशुक्ल लेश्या होती है।

कल्पसंज्ञा कहां तक है

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः।।23।।

अर्थ-(ग्रैवेयकेभ्यः प्राक्) ग्रैवेयक के पहले-पहले 16 स्वर्ग (कल्पाः) कल्प कहलाते हैं। क्योंकि इनमें इन्द्रादिक की कल्पना होती है। इनसे आगे नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पांच अनुत्तर कल्पातीत कहलाते हैं। क्योंकि इनमें सभी अहमिन्द्र होते हैं। अतः इनमें इन्द्र आदि की कल्पना नहीं होती है।

लौकान्तिकों का लक्षण

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः।।24।।

अर्थ-(ब्रह्मलोकालया) ब्रह्मलोक (पांचवां स्वर्ग) है आलय (निवास स्थान) जिनका ऐसे देव (लौकान्तिकाः) लौकान्तिक देव कहे जाते हैं।

विशेषार्थ-ये देव ब्रह्मलोक के अन्त में रहते हैं और एक भवावतारी होते हैं तथा इनके लोक (संसार) का अन्त आ जाता है, इसलिए इन्हें लौकान्तिक कहते हैं। ये द्वादशांग के पाठी होते हैं, ब्रह्मचारी रहते हैं, और तीर्थंकरों के केवल तप कल्याणक मात्र में आते हैं। ये 'देवर्षि' भी कहे जाते हैं।

लौकान्तिक देवों के नाम

सारस्वतादित्य-वह्न्यरुण-गर्दतोय-तुषिता-व्याबाधारिष्टाश्च।।25।।

अर्थ-लौकान्तिक देवों के आठ भेद हैं। सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरूण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट।

विशेषार्थ-ये ब्रह्म स्वर्ग की ईशान आदि आठ दिशाओं में क्रम से रहते हैं। ये सभी स्वतंत्र हैं, किसी इन्द्र के आधीन नहीं है। सब समान हैं, इनमें कोई छोटा कोई बड़ा नहीं। अन्य देव इनकी बड़ी प्रतिष्ठा करते हैं।

अनुदिश तथा अनुत्तरवासी देवों में अवतार का नियम

विजयादिषु द्विचरमाः।।26।।

अर्थ-विजय, वैजयन्त, अपराजित वा जयन्त नव अनुदिश विमानों के अहमिन्द्र 'द्विचरम' होते हैं। अर्थात् मनुष्य के दो जन्म (भव) लेकर अवश्य ही मोक्ष जाते हैं। अर्थात् विजयादिक से चयकर मनुष्य होते हैं और संयम धारण करके पुनः विजयादिक में जन्म लेते हैं। फिर वहाँ से चयकर मनुष्य होकर मोक्ष जाते हैं।

विशेषार्थ- एक भव का नियम सर्वार्थसिद्धि के देव, दक्षिणेन्द्र, सौधर्म स्वर्ग के लोकपाल, सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र व उनकी पटरानी शची मनुष्य का एक भव धारण कर मोक्ष जाते हैं।

अनुदिश तथा चार अनुत्तरों के देव एकभव धारण करके भी मोक्ष जा सकते हैं। यहां अधिक से अधिक दो भव बतलाए हैं।

तिर्यंच का लक्षण

औपपादिक मनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः।।27।।

अर्थ- (औपपादिक मनुष्येभ्यः) उपपाद जन्म लेने वाले देव, नारकी तथा मनुष्यों को छोड़कर (**शेषाः**) बचे हुए शेष समस्त संसारी प्राणी (तिर्यग्योनयः) तिर्यंच गति के जीव हैं। तिर्यंच समस्त लोक में व्याप्त हैं परंतु त्रसजीव त्रसनाली में ही रहते हैं।

भवनवासी देवों की उत्कृष्ट आयु

स्थिति-रसुर-नाग-सुपर्ण-द्वीप-शेषाणां सागरो-पमत्रि-पल्योप-मार्ध-हीनमिताः।।28।।

अर्थ-भवनवासियों में असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार और शेष भवनवासी देवो की उत्कृष्ट आयु क्रम से 1 सागर, 3 पल्य, 2.½ पल्य, 2 पल्य और 1.½ पल्य होती है।

सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु

सोधर्मैशानयोः सागरोपमेअधिके।।29।।

अर्थ-सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु दो सागर से कुछ अधिक है।

विशेषार्थ - वैसे तो सौधर्म ऐशान स्वर्ग में दो सागर की ही उत्कृष्ट आयु

है। किंतु घातायुष्क सम्यग्दष्टि के दो सागर से लगभग आधा सागर आयु अधिक होती है। आशय यह है- जो मनुष्य अथवा तिर्यंच सम्यग्दृष्टि कहते हैं। जैसे किसी मनुष्य ने 8वें स्वर्ग की आयु बांधी बाद में उसके संक्लेश परिणाम हो गये तब वह बंधी हुई आयु को घटाकर दूसरे स्वर्ग में उत्पन्न हुआ तो उसके दूसरे देवों की अपेक्षा उसकी आयु स्वर्ग की उत्कृष्ट आयु दो सागर से अन्तमूर्हूत कम आधा सागर अधिक होगी ऐसा घातायुष्कपना पूर्वभव मनुष्य व तिर्यंच पर्याय में होता है। घातायुष्क जीव 12 वें स्वर्ग तक ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए कुछ अधिक 12वें स्वर्ग तक ही कहा है। ऊपर के दवों में शुक्ल लेश्या है। अतः उन स्वर्गों में आयु घात करने वाले उत्पन्न नहीं होते हैं।

सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग में उत्कृष्ट आयु

सानत्कुमार-माहेन्द्रयोः सप्त।।30।।

अर्थ-सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग में देवों की उत्कृष्ट आयु सात सागर से कुछ अधिक है।

ब्रह्म से अच्युत स्वर्ग तक के देवों की उत्कृष्ट आयु

त्रि-सप्त-नवैकादश-त्रयोदश पचदशभि-रधिकानि तु।।31।।

अर्थ-सात सागर में क्रम से 3/7/9/11/13/15 सागर जोड़ देने से आगे के छह कल्पयुगलों में देवों की उत्कृष्ट आयु होती है। अर्थात् ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में कुछ अधिक 10 सागर, लान्तव और कापिष्ठ स्वर्ग में कुछ अधिक 14 सागर, शुक्र और महाशुक्र स्वर्ग में कुछ अधिक 16 सागर, सतार और सहस्त्रार स्वर्ग में कुछ अधिक 18 सागर, आनत और प्राणत स्वर्ग में कुछ अधिक 20 सागर तथा आरण और अच्युत स्वर्ग में कुछ अधिक 22 सागर उत्कृष्ट आयु होती है।

ग्रैवेयक, अनुदिश, अनुत्तरों में उत्कृष्ट आयु

आरणाच्युता-दूर्ध्व-मेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च।।32।।

अर्थ-(आरणाच्युतात्) आरण-अच्युत स्वर्ग से (ऊर्ध्वम्) ऊपर (नवसु ग्रैवेयकेषु) नव ग्रैवेयक व नवअनुदिश में (विजयादिषु) विजय आदि चार अनुत्तर नव अनुदिशों में (च) और (सर्वार्थसिद्धौ) सर्वार्थसिद्धि विमान में (एकैकेन) एक-एक सागर बढ़ती हुई आयु है। अर्थात् पहले नव ग्रैवेयक में 23 सागर, दूसरे में 24 सागर तृतीय में 25, चतुर्थ में 26, पंचम में 27, छटवें में 28 सातवें में 29, आठवें में 30 व नवमें में 31 सागर उत्कृष्ट आयु है। नव अनुदिशों में 32 सागर और अनुत्तरों में 33 सागर उत्कृष्ट आयु है।

सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में जघन्य आयु

अपरा पल्योपम-मधिकम्।।33।।

अर्थ-सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में जघन्य आयु एक पल्य से कुछ अधिक है।

शेष वैमानिकों की जघन्य आयु

परतः परतः पूर्वापूर्वाऽनन्तरा।।34।।

अर्थ- ऊर्ध्वलोक में (पूर्वापूर्वा) पहले-पहले पटल की उत्कृष्ट आयु (परतः परतः) आगे-आगे के पटल में (अनन्तरा) जघन्य आयु है। जैसे सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में जो उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक दो सागर की वह सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग में जघन्य आयु है इसी क्रम से आगे भी जानना चाहिए। सर्वार्थसिद्धि में जघन्य आयु नहीं होती।

द्वितीयादि नरकों की जघन्य आयु

नारकाणां च द्वितीयादिषु।।35।।

अर्थ-दूसरे आदि नरकों में नारकियों की जघन्यु आयु भी देवों के समान है। अर्थात् पहले नरक में जितनी उत्कृष्ट आयु है उतनी दूसरे नरक में जघन्य आयु है। इसी तरह समस्त नरकों में जानना।

प्रथम नरक में जघन्य आयु

दश-वर्ष-सहस्त्राणि प्रथमायाम्।।36।।

अर्थ-पहले नरक में नारकियों की जघन्य आयु दस हजार 10,000 वर्ष की है।

भवनवासी देवों की जघन्य आयु

भवनेषु च।।37।।

अर्थ-भवनवासी देवों की भी जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है।

व्यन्तर देवों की जघन्य आयु

व्यन्तराणां च।।38।।

अर्थ-व्यंतर देवों में भी जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है।

व्यन्तर देवों में उत्कृष्ट आयु

परा पल्योप-ममधिकम्।।39।।

अर्थ-व्यन्तर देवों में उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एकपल्य है।

असंख्यात वर्षों का एक पल्य होता है और दस कोड़ाकोड़ी पल्यों का एक सागर होता है।

ज्योतिषी देवों में उत्कृष्ट आयु

ज्योतिष्काणां च।।40।।

अर्थ-ज्योतिष्क देवों में उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक पल्य है।

ज्योतिष्क देवों में जघन्य आयु

तदष्ट-भागोऽपरा।।41।।

अर्थ- ज्योतिषी देवों में जघन्य आयु एक पल्य के आठवें भाग (1/8 पल्य) होती है।

लोकान्तिक देवों में आयु

लौकान्तिकाना-मष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्।।42।।

अर्थ-(सर्वेषाम्) समस्त (लोकान्तिकानाम्) लौकान्तिक देवों में जघन्य और उत्कृष्ट आयु (अष्टौ सागरोपमाणि) आठ सागर प्रमाण (अस्ति) है।

इति तत्त्वार्थसूत्रे मोक्षशास्त्रे चतुर्थोऽयायः समाप्तः।।4।।

अजीव तत्त्व का वर्णन

पंचम अध्याय

अजीव तथा बहुप्रदेशी द्रव्य के भेद व नाम

अजीव-काया धर्माधर्माकाश-पुद्गलाः।।1।।

अर्थ-(धर्माधर्माकाशपुद्गलाः) धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये चार (अजीवकायाः) अजीव तथा बहुप्रदेशी द्रव्य हैं।

विशेषार्थ : वैसे तो द्रव्य 6 हैं। उनमें 5 द्रव्य अजीव हैं केवल एक द्रव्य जीव है तथा 6 द्रव्यों में 5 द्रव्य अस्तिकाय हैं और एक काल द्रव्य अस्तिकाय नहीं है। अतः जीव द्रव्य काय रूप है। किन्तु अजीव नहीं हैं और काल द्रव्य अजीव है। किन्तु कार्य रुप नहीं है। इसलिए जीव और काल से सिवा शेष 4 द्रव्य ही ऐसे हैं। जो अजीव भी हैं और कायवान भी हैं।

द्रव्यों की गणना

द्रव्याणि।।2।।

अर्थ-धर्मादिक चार पदार्थ द्रव्य हैं।

जीव का द्रव्यपना

जीवाश्च।।3।।

अर्थ-जीव भी द्रव्य है और बहु प्रदेशी (कायवान) है।

द्रव्यों की विशेषता

नित्यावस्थितान्यरूपाणि।।4।।

अर्थ-ऊपर कहे हुए सभी द्रव्य नित्य, अवस्थित और अरूपी हैं। कभी नष्ट नहीं होते, इसलिए नित्य हैं। अपनी छह संख्या का उल्लंघन नहीं करते न 5 होते हैं। न 7 होते है 6 के 6 ही होते हैं। इसलिए अवस्थित हैं। और रूप, रस, गंध तथा स्पर्श से रहित हैं इसलिए अरूपी हैं।

पुद्गल द्रव्य के रूपित्व का वर्णन

रूपिणः पुद्गलाः।।5।।

अर्थ- पुद्गल द्रव्य रूपी अर्थात् मूर्तिक है।

विशेषार्थ- यद्यपि सूत्र में पुद्गल को केवल रूपी बतलाया है परंतु साथ रहने से रस, गन्ध तथा स्पर्श का भी ग्रहण हो जाता है।

धर्मादिक द्रव्यों की संख्या

आ आकाशादेक-द्रव्याणि।।6।।

अर्थ-आकाशपर्यंत द्रव्य एक-एक हैं। अर्थात् धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य एक-एक है। जीवद्रव्य अनन्त हैं, पुद्गलद्रव्य अनंतानंत हैं। कालद्रव्य असंख्यात (अणुरूप) हैं।

धर्मादिक तीन द्रव्यों की निष्क्रियता

निष्क्रियाणि च।।7।।

अर्थ-धर्म, अधर्म और आकश ये तीनों द्रव्य क्रियारहित हैं। **क्रिया**-एक स्थान से दूसरे स्थान में प्राप्त होने को क्रिया कहते हैं।

नोट-धर्म और अधर्म द्रव्य समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं तथा आकाशद्रव्य लोक और अलोक दोनों जगह व्याप्त हैं, इसलिए अन्य क्षेत्र का अभाव होने से इनमें हलन-चलन रूप क्रिया नहीं होती।

धर्म, अधर्म और एक जीव द्रव्य के प्रदेश

असंख्येयाः प्रदेशा धर्मा-धर्मैक-जीवानाम्।।8।।

अर्थ-(धर्माधर्मैकजीवानाम्) धर्म, अधर्म और एक जीव द्रव्य के (असंख्येयाः) असंख्यात (प्रदेशाः) प्रदेश (सन्ति) होते हैं।

प्रदेश-जितने क्षेत्र को एक पुद्गल परमाणु रोकता है उतने क्षेत्र (स्थान) को एक प्रदेश कहते हैं।

नोट-सब जीव द्रव्यों के अनन्तानन्त प्रदेश होते हैं। इसलिए सूत्र में 'एकजीव' का ग्रहण किया है।

आकाश द्रव्य के प्रदेश

आकाशस्यानन्ताः।।9।।

अर्थ-आकाश द्रव्य के अनंत प्रदेश हैं। परंतु लोकाकाश के असंख्यात ही प्रदेश हैं।

प्र. - आकाश किसे कहते हैं ?

उ. - जो लोक और अलोक में चारों तरफ व्याप्त होकर रहता है। वह

आकाश है। ऊपर दिखाई देने वाले (नीला-2) पिण्ड आकाश नहीं है वह तो पुद्गल महास्कंध है।

प्र. - अनंत किसे कहते हैं ?

उ. - जिसका अंत नहीं है वह अनन्त है। वह अनंत केवल ज्ञान का विषय है। आकश के दो भेद है। 1. लोकाकाश 2. अलोकाकाश।

लोकाकाश- आकाश द्रव्य के जितने क्षेत्र में 6 द्रव्य रहते है। वह लोकाकाश कहलाता है। अलोकाकाश-शेष आकाश को आलोकाकाशा कहते हैं। जहाँ कोई अन्य द्रव्य नहीं होता सिर्फ आकाश होता है।

पुद्गल द्रव्य के प्रदेश

संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम्।।10।।

अर्थ-(पुद्गलानाम्) पुद्गलों के (संख्येयासंख्येयाश्च) संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेश हैं।

शंका-जब लोकाकाश में असंख्यात ही प्रदेश हैं तब उसमें अनन्तप्रदेश वाले पुद्गल तथा शेष द्रव्य किस तरह रह सकेंगे?

समाधान-पुद्गल द्रव्य में दो तरह का परिणमन होता है एक सूक्ष्म और दूसरा स्थूल। जब उसमें सूक्ष्म परिणमन होता है तब लोकाकाश के एक प्रदेश में भी अनन्तप्रदेश वाला पुद्गल स्कन्ध स्थान पा लेता है। इसके सिवाए समस्त द्रव्यों में एक दूसरे को अवगाहन देने की सामर्थ्य है, जिससे अल्पक्षेत्र में ही समस्त द्रव्यों के निवास में कोई बाधा नहीं होती।

परमाणु के प्रदेश

नाणोः।।11।।

अर्थ-पुद्गल परमाणु के दो आदिक प्रदेश (खण्ड) नहीं होते अर्थात् वह एक प्रदेशी ही है।

समस्त द्रव्यों के रहने का स्थान

लोकाकाशेऽवगाहः।।12।।

अर्थ-समस्त द्रव्यों का अवगाह (स्थान) लोकाकाश में हैं। लोकाकाश-आकाश के जितने हिस्से में जीव आदि छहों द्रव्य रहते हैं उतने हिस्से को लोकाकाश (लोक) कहते हैं। शेष आकाश को अलोकाकाश (अलोक) कहते हैं।

धर्म और अधर्म द्रव्य के रहने का स्थान

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने।।13।।

अर्थ-धर्म और अधर्म द्रव्य का अवगाह तिल में तेल की तरह समस्त लोकाकाश (लोक) में पाया जाता है।

जैसे- तिल में सर्वत्र तेल पाया जाता है। वैसे ही धर्म अधर्म द्रव्य संपूर्ण लोकाकाश में रहते हैं।

पुद्‌गल के रहने का स्थान

एक प्रदेशादिषु भाज्यः पुद्‌गलानाम्।।14।।

अर्थ-(पुद्‌गलानाम्) पुद्गल द्रव्य का अवगाह (एक प्रदेशादिषु) लोकाकाश के एक प्रदेश को लेकर संख्यात, असंख्यात प्रदेशों में (भाज्यः) विभाग करने योग्य है।

एक जीव के रहने का स्थान

असंख्येयभागादिषु जीवानाम्।।15।।

अर्थ-(जीवानाम्) जीवों का अवगाह (असंख्येयभागादिषु) लोकाकाश के असंख्यातवें भाग से लेकर संपूर्ण लोकक्षेत्र में (अस्ति) है।

असंख्यात प्रदेशी जीव द्रव्य का लोक के असंख्यातवें भाग में रह सकने का स्पष्टीकरण

प्रदेश-संहार-विसर्पाभ्यां प्रदीपवत्।।16।।

अर्थ-(प्रदीपवत्) दीपक के प्रकाश की तरह (प्रदेशसंहारविसर्पाभ्याम्) प्रदेशों के संकोच और विस्तार द्वारा जीव लोकाकाश के असंख्यातवें आदि भागों में रहता है।

अर्थात्-जिस तरह एक बड़े मकान में दीपक के रख देने से उसका प्रकाश समस्त मकान में फैल जाता है और उसी दीपक को एक छोटे बर्तन के भीतर रख देने से उसका प्रकाश उसी में संकुचित होकर रह जाता है, उसी तरह जीव भी जितना बड़ा या छोटा शरीर पाता है उसमें उतना ही विस्तृत या संकुचित होकर रह जाता है।

परंतु केवलीसमुद्‌घात अवस्था में सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हो जाता है और सिद्ध अवस्था में अन्तिम शरीर से कुछ कम रहता है।

धर्म और अधर्म द्रव्य का कार्य या लक्षण

गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरूपकारः।।17।।

अर्थ-स्वयं चलते हुए जीव और पुद्गल को चलने में सहायता देना धर्म द्रव्य का तथा स्वयं ठहरते हुए जीव और पुद्गल को ठहरने में सहायता देना अधर्म द्रव्य का उपकार या काम है।

विशेषार्थ- निमित्त दो प्रकार के होते हैं। 1. उदासीन निमित्त 2. प्रेरक निमित्त

1. **उदासीन निमित्त**- जैसे रेल की पटरी रेल के चलने में सहयोगी है रेल की पटरी जबरदस्ती रेल को नहीं चलाती है। पानी मछली को तैरने में सहयोगी है, पानी जबरदस्ती नहीं तैराता है। वृक्ष पथिक को रोकने में (विश्राम देने में) सहायक है जबरदस्ती नहीं रोकता है ये उदासीन निमित्त है।

2. **प्रेरक निमित्त**- जैसे रेल के इंजन डिब्बों को जबरदस्ती खींचता है। धर्म और अधर्म द्रव्य जीव और पुद्गल को चलने और रूकने में उदासीन निमित्त हैं प्रेरक निमित्त नहीं है।

आकाश द्रव्य का उपकार या कार्य

आकाशस्यावगाहः।।18।।

अर्थ-समस्त द्रव्यों को अवकाश देना आकाश द्रव्य का उपकार है।

विशेषार्थ-जो सब द्रव्यों को ठहरने के लिए स्थान देता है उसे आकाश कहते हैं।

पुद्गल द्रव्य का उपकार या कार्य

सुख-दुःख-जीवित-मरणो-पग्रहाश्च।।20।।

अर्थ-इन्द्रियजन्य सुख, दुख, जीवन और मरण ये भी पुद्गल द्रव्य के उपकार या काम हैं।

विशेषार्थ-इस सूत्र में जो 'उपग्रह' शब्द का ग्रहण किया है उससे सूचित होता है कि पुद्गल परस्पर में एक दूसरे का भी उपकार करते हैं। जैसे-राख कांसे का और साबुन कपड़े का इत्यादि।

यहां 'उपकार' शब्द का अर्थ निमित्तमात्र ही समझना चाहिए। अन्यथा दुःख, मरण आदि उपकार नहीं कहलावें।

जीव द्रव्य का उपकार या कार्य

परस्परोपग्रहो जीवानाम्।।21।।

अर्थ-आपस में एक दूसरे की सहायता करना जीव द्रव्य का उपकार है। जैसे-स्वामी सेवका का, सेवक स्वामी का, गुरु शिष्य का और शिष्य गुरु का उपकार करता है।

काल द्रव्य का उपकार या कार्य

वर्तना-परिणामक्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य।।22।।

अर्थ-वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये काल द्रव्य के उपकार हैं।

वर्तना- सर्वद्रव्य अपने आप वर्त्तते हैं तथापि उनके वर्तने में जो बाह्य सहकारी कारण होता है उसे वर्तना कहते हैं।

परिणाम- अपने स्वभाव को न छोड़कर द्रव्यों की पर्यायों के बदलने को परिणाम कहते हैं। जैसे-जीवों के परिणाम क्रोधादि और पुद्गलों के परिणाम अणु आदि।

क्रिया- एक स्थान से दूसरे स्थान में गमन करने को क्रिया कहते हैं।

परत्वापरत्व- छोटे-बड़ों के व्यवहार को परत्वापरत्व कहते हैं। जैसे-25 वर्ष के मनुष्य को बड़ा और 20 वर्ष के मनुष्य को उसकी अपेक्षा छोटा कहते हैं।

ये सब काल द्रव्य की सहायता से होते हैं। इसलिए इन्हें देखकर अमूर्तिक निश्चय काल द्रव्य का अनुमान कर लेना चाहिए।

पुद्गल द्रव्य का लक्षण

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-वन्तः पुद्गलाः।।23।।

अर्थ-जिसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण होता है उसे पुद्गल कहते हैं।

विशेषार्थ- ये चार गुण हर एक पुद्गल में एक साथ और अवश्य रहते हैं। इनके उत्तरभेद इस प्रकार है।

स्पर्श- जो स्पर्श किया जाता है अथवा स्पर्शन मात्र को स्पर्श कहते हैं।

स्पर्श के आठ भेद- हल्का, भारी, स्निग्ध, रूक्ष, कोमल, कठोर, शीत और उष्ण।

रस- जो स्वाद रूप होता है या स्वाद मात्र को रस कहते हैं ।

रस के पांच भेद-खट्टा, मीठा, कडुआ, कषायला और चरपरा।

गंध- जो सूंघा जाता है या सूंघने मात्र को गंध कहते हैं।

गन्ध के दो भेद-सुगन्ध और दुर्गन्ध।

वर्ण- जिसका कोई वर्ण (रंग) हैं या वर्ण मात्र को वर्ण कहते हैं।

वर्ण के पांच भेद-काला, पीला, नीला, लाल और सफेद। ये बीस पुद्गल के गुण हैं।

पुद्ल की पर्यायें

शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद-तमश्छाया तपोद्योत-वन्तश्च।।24।।

अर्थ-शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान (आकार), भेद, अन्धकार, छाया, आतप और उद्योत ये सब पुद्गल की पर्यायें हैं।

पुद्गल के भेद

अणवः स्कन्धाश्च।।25।।

अर्थ-पुद्गल के दो भेद हैं अणु और स्कन्ध।

अणु-जिसका दूसरा भाग नहीं हो सकता उस अविभागी (एक प्रदेशी) पुद्गल द्रव्य को अणु या परमाणु कहते हैं।

स्कन्ध-दो, तीन, संख्यात, असंख्यात, तथा अनन्त परमाणुओं के पिण्ड (समूह) को स्कन्ध कहते हैं।

स्कन्धों की उत्पत्ति

भेद-संघातेभ्यः उत्पद्यन्ते।।26।।

अर्थ-(भेदसंघातेभ्यः) भेद (बिछुड़ने) संघात (मिलने) और भेदसंघात दोनों से (उत्पद्यन्ते) स्कन्धों की उत्पत्ति होती है। जैसे-20 परमाणु वाला स्कन्ध है, उसमें 10 परमाणु बिखर जाने से 10 परमाणु वाला स्कन्ध बन जाता है और उसी में 10 परमाणु मिल जाने से 30 परमाणु वाला स्कन्ध बन जाता है तथा उसी में एक साथ 10 परमाणुओं के बिछुड़ने और 15 परमाणुओं के मिल जाने से 25 परमाणु वाला स्कन्ध बन जाता है।

नोट-सूत्र में द्विवचन के स्थान में जो बहुवचन रूप प्रयोग किया है, उसी से यह तीसरा अर्थ सूचित हुआ है।

परमाणु की उत्पत्ति का कारण

भेदादणुः।।27।।

अर्थ-अणु की उत्पत्ति स्कन्धों के भेद (टूटने) से ही होती है।

चाक्षुष स्कन्ध की उत्पत्ति का कारण

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः।।28।।

अर्थ-(चाक्षुषः) चक्षु इन्द्रिय से दिखने योग्य स्कन्ध (भेद-संघाताभ्याम्) भेद और संघात दोनों से ही उत्पन्न होता है। केवल भेद से उत्पन्न नहीं हो सकता।

द्रव्य का लक्षण

सद् द्रव्य-लक्षणम्।।29।।

अर्थ-(द्रव्यलक्षणम्) द्रव्य का लक्षण (सत्) अस्तित्व है।

सत् का लक्षण

उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्।।30।।

अर्थ-(उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तम्) जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सहित होता है वह (सत्) सत है।

उत्पाद-द्रव्य में नवीन पर्याय की उत्पत्ति को उत्पाद कहते हैं। जैसे-मिट्टी की पिण्डपर्याय से घटपर्याय का उत्पाद।

व्यय-पूर्वपर्याय के विनाश को व्यय कहते हैं। जैसे-घटपर्याय उत्पन्न होने

पर पिण्डपर्याय का विनाश।

ध्रौव्य-पूर्वपर्याय का विनाश और नवीन पर्याय का उत्पाद होने पर भी सदा बने रहने वाले मूल स्वभाव को ध्रौव्य कहते हैं। जैसे-पिण्ड तथा घट दोनों पर्यायों में मिट्टी का रहना।

ध्रौव्य का लक्षण

तद्भावाव्ययं नित्यम्।।31।।

अर्थ-(तद्भवाव्ययम्) तद्भावरूप से जो अव्यय है, वह नष्ट नहीं होता वह (नित्यम्) नित्य कहलाता है।

विशेषार्थ : नित्य का तात्पर्य यह नहीं है कि जो वस्तु जिस रूप में है वह सदा उसी रूप में बनी रहे और उसमें कुछ भी परिणमन न हो। किन्तु परिणमन के होते हुए भी उसमें ऐसी एक-रूपता का बना रहना ही नित्यता है, जिसे देखकर हम तुरंत पहिचान लें कि यह वही वस्तु है जिसे पहले देखा था।

पदार्थ में यह नित्यता सामान्य स्वरूप की अपेक्षा ही होती है विशेष पर्याय की अपेक्षा सभी द्रव्यें अनित्य हैं। इसलिए संसार के सभी पदार्थ नित्यानित्य रूप हैं।

एक वस्तु में दो विरूद्ध धर्म सिद्ध करने की रीति

अर्पितानर्पितसिद्धेः।।32।।

अर्थ-मुख्यता (प्रधानता या विवक्षा) तथा गौणता (अप्रधानता या अविवक्षा) से अनेक धर्म वाली वस्तु का कथन होता है।

विशेषार्थ-वस्तु में विवक्षित और अविवक्षित अनेक धर्म रहते हैं। पितृत्व, पुत्रत्व और मातुलत्व आदि की तरह एक ही वस्तु में अनेक धर्म रहने पर भी विरोध नहीं आता।

उन अनेक धर्मों में वक्ता जिस धर्म को कहने की इच्छा करता है वह धर्म अर्पित (विवक्षित या मुख्य) कहलाता है और वक्ता उस समय जिस धर्म को नहीं कहना चाहता है, वह धर्म अनर्पित (अविवक्षित या गौण) कहलाता है।

वस्तु अनेक धर्मात्मक है। जैसे राम दशरथ की अपेक्षा पुत्र हैं सीता अपेक्षा पति हैं। लक्ष्मण की अपेक्षा भाई हैं। लव-कुश की अपेक्षा पिता हैं। परन्तु जब राम का दशरथ की अपेक्षा कथन होगा तब पुत्र कहा जायेगा, उस समय भी राम पति है, भाई है, पिता है। किन्तु कथन दशरथ की अपेक्षा है इसलिए मुख्यता पुत्र कहने की है। पति, भाई, पिता नहीं कहा जायेगा। जब सीता की चर्चा होगी तब पति कहा जायेगा शेष सब (गौण) रहेंगें। जब लव-कुश की चर्चा होती है तब पिता कहाँ जायेगा शेष सब गौण रहेगाा लक्ष्मण की चर्चा होगी तब भाई कहा जायेगा, शेष गौण

होगें। एक वस्तु अनेक धर्मात्मक हो सकती है। परन्तु अनेक धर्मों का कथन एक साथ नहीं होगा एक-एक धर्म का क्रमशः कथन होगा परन्तु अनेक धर्म एक साथ रहने में बाधा नहीं है।

जैसे-वक्ता यदि द्रव्यार्थिकनय से वस्तु का कथन करेगा तो वस्तु की नित्यता विवक्षित कहलावेगी और यदि वक्ता पर्यायार्थिक नय से वस्तु का कथन करेगा तो वस्तु की अनित्यता विवक्षित होगी।

जिस समय किसी वस्तु को द्रव्य की अपेक्षा नित्य कहा जाता है उसी समय वस्तु पर्याय की अपेक्षा अनित्य भी है। परंतु वह अनित्यता कही नहीं जा रही है, क्योंकि दो धर्म एक साथ कहे नहीं जा सकते। किन्तु एक साथ रह सकते हैं।

परमाणुओं के बन्ध होने में कारण

स्निग्ध-रूक्षत्वाद् बन्धः।।33।।

अर्थ-चिकनाई और रूक्षवापन के निमित्त से परमाणुओं का परस्पर बन्ध होता है। स्निग्ध- पुद्ग्ल के चिकने गुण रूप जो पर्याय है वह स्निग्ध है। रूक्षत्व-रूखापन के कारण प्रमुख रूक्ष होता है। अथवा पुद्गल की रूक्षगुण रूप जो पर्याय है। वह रूक्षत्व है। **बन्ध**-अनेक पदार्थों में एक-पने का ज्ञान कराने वाले सम्बन्ध को बन्ध कहते हैं।

एक गुण वाले परमाणु में बन्ध का अभाव

न जघन्य-गुणानाम्।।34।।

अर्थ-जघन्यगुण वाले परमाणुओं का बंध नहीं होता। जिन परमाणुओं में स्निग्धता अथवा रूक्षता का एक अविभागी प्रतिच्छेद रह जाता है उनका बंध नहीं होता।

गुण-स्निग्धता और रूक्षता के अविभागी प्रतिच्छेदों (जिनका टुकड़ा नहीं हो सके ऐसे अंशों) को गुण कहते हैं।

जघन्यगुण वाले परमाणु- जिस परमाणु में स्निग्धता और रूक्षता का एक अविभागी अंश होता है उसे जघन्य गुण सहित परमाणु कहते हैं।

बंधाभाव का नियम

गुण-साम्ये सदृशानाम्।।35।।

अर्थ-(गुणसाम्ये) गुणों में समानता होने पर (सदृशानाम्) सजातीय परमाणुओं का बंध नहीं होता। जैसे दो गुण वाले स्निग्ध परमाणु का एक दूसरे दो गुण स्निग्ध परमाणु के साथ बंध नहीं होता।

विशेषार्थ- यदि बंधने वाले दो परमाणु सजातीय हों और उनमें बराबर-बराबर अविभागी प्रतिच्छेद हो तो उनका भी बंध नहीं होता। जैसे दो गुण स्निग्ध वाले परमाणु का अन्य दो गुण स्निग्ध वाले परमाणु के साथ बंध नहीं होता।

दो रूक्षगुण वाले परमाणु का दो रूक्ष गुण वाले परमाणु के साथ बंध नहीं होता। इसी तरह दो गुण रूक्ष वाले दो गुण स्निग्घ गपरमाणु के साथ बंध नहीं होता। यदि गुणों में संख्या से विषमता हो (समानता न हो) तो सजातियों का भी बंध होता है।

नोट-सूत्र में दिए "**सदृशानाम्**" पद से सूचित होता है कि गुणों की विषमता में समानजाति वाले अथवा भिन्न जाति वाले पुद्गलों का बन्ध हो जाता है।

बंध किनका होता है

द्व्यधिकादि-गुणानां तु।।36।।

अर्थ- दो अधिक गुण वालों के साथ ही बन्ध होता है। अर्थात् जब एक परमाणु से दूसरे परमाणु में दो अधिक गुण होते हैं, तभी बन्ध होता है। जैसे दो गुण वाले परमाणु का बन्ध चार गुण वाले परमाणु के साथ होता है। तीन गुण वाले परमाणु का बंध पांच गुण वाले परमाणु के साथ होता है।

परंतु इससे अधिक या कम गुण वाले परमाणु के साथ बंध नहीं होता। यह बंध स्निग्ध का स्निग्ध के साथ, रूक्ष का रूक्ष के साथ, स्निग्ध का रूक्ष के साथ तथा रूक्ष का स्निग्ध के साथ होता है।

बन्ध होने पर होने वाली अवस्था

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च।।37।।

अर्थ-(च) और (बन्धे) बन्ध होने पर (अधिकौ) अधिक गुण वाले परमाणु (पारिणामिकौ) कम गुण वाले परमाणुओं को अपने रूप परिणमाने वाले होते हैं। जैसे- गीला गुड़ अपने साथ बन्ध को प्राप्त होते हुए रज को गुड़ रूप परिणमा लेता है।

विशेषार्थ- बन्ध होने पर अधिक गुण वाला परमाणु अपने से कम गुण वाले परमाणु को अपने रूप कर लेता है। इससे दोनों मिलकर एक हो जाते हैं और उनके रस, रूप आदि गुणों में भी परिवर्तन होकर स्कन्ध बन जाता है।

इसी से बंधने वाले परमाणुओं में दो गुण का अन्तर रखा है। इससे अधिक अन्तर होने से एक परमाणु दूसरे में मिल तो सकता हैं। किन्तु फिर तीसरी अवस्था प्रगट नहीं हो सकती। क्योंकि अल्पगुण वाला अपने से अधिक गुण वाले पर कुछ भी असर नहीं डाल सकता।

इसी प्रकार अन्तर न रहने से भी दोनों समान बलशाली होने से एक दूसरे को अपने रूप नहीं परिणमाकर अलग-अलग ही रह जाते हैं।

द्रव्य का दूसरा लक्षण

गुण पर्यय वद् द्रव्यम्।।38।।

अर्थ-जिसमें गुण या पर्याय पाए जाती हैं। उसे द्रव्य कहते हैं।

गुण- द्रव्य की अनेक पर्याय पलटने पर भी जो द्रव्य से कभी पृथक् नहीं होता, सदा द्रव्य के साथ ही रहता है उसे गुण कहते हैं। जैसे-जीव के ज्ञान आदि, पुद्गल के रूप-रस आदि।

पर्याय- क्रम-क्रम से होने वाली वस्तु की विशेषता को पर्याय कहते हैं। अथवा द्रव्य में जो विक्रिया होती है अथवा जो अवस्था बदलती है उसे पर्याय कहते हैं। जैसे-जीव की नर नारकी आदि पर्याय हैं।

काल भी द्रव्य है

कालश्च।।39।।

अर्थ-काल भी द्रव्य है, क्योंकि यह भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तथा गुण पर्यायों से सहित है।

विशेषार्थ- जितने लोककाश के प्रदेश हैं उतने ही काल द्रव्य हैं। रत्नों की राशि की तरह एक-दूसरे से पृथक्-पृथक् रहते हुए लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित है। काल-द्रव्य असंख्यात है। यह काल-द्रव्य अचेतन, अमूर्तिक तथा सूक्ष्म होता है। काल-द्रव्य में रूप, रस, स्पर्श, गंध नहीं पाये जाते हैं। ये काल द्रव्य निहिक्रम है ये एक प्रदेश से दूसरे पर नहीं जाते है। जो जहाँ स्थित हैं वह वहीं स्थित रहता है। काल द्रव्य एक प्रदेशी है।

1. 'च' का अन्वय 'द्रव्याणि' सूत्र के साथ है।

काल द्रव्य की विशेषता

सोऽनन्तसमयः।।40।।

अर्थ-यह कालद्रव्य अनन्त समय वाला है। यद्यपि वर्तमान काल एक समय मात्र ही है, तथापि भूत भविष्यत की अपेक्षा अनन्त समय वाला है।

समय-कालद्रव्य के सबसे छोटे हिस्से को समय कहते हैं। मन्दगति से चलने वाला पुद्गल परमाणु आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर जितने काल में पहुँचता है उतना काल एक समय है।

समय से उत्पन्न व्यवाहर काल

असंख्यात समय - आवली

संख्यात आवलि	-	1 उच्छवास
7 उच्छवास	-	1 स्तोक
7 स्तोक	-	1 लव
$38\frac{1}{2}$ लव	-	1 (घड़ी)
2 नाली (घड़ी)	-	1 मुहूर्त (48मिनट)

छः आवली एक समय से अधिक समय से लेकर 48 मिनट में एक समय कम समय का अन्तमुर्हुत होता है। इसी प्रकार दिन-रात सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग पल्योपम, सागरोपम आदि व्यवहार काल के भेद से जानना चाहिए।

निश्चयकाल द्रव्य- लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर रत्नों की राशि की तरह जो एक-एक कालाणु स्थित है उसे निश्चयकालद्रव्य कहते हैं। वर्तना उसका कार्य है।

गुण का लक्षण

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः।।41।।

अर्थ-जो सदा द्रव्य को आश्रय से रहते हैं और जिसमें स्वयं दूसरा गुण नहीं रहता उसे गुण कहते हैं। जैसे-जीव का ज्ञान आदि। ज्ञान जीवद्रव्य के आश्रित रहता है तथा इसमें कोई दूसरा गुण नहीं रहता, इसलिए ज्ञान को जीव का गुण जानना।

पर्याय का लक्षण

तद्भावः परिणामः।।42।।

अर्थ-जीवादि द्रव्य जिस रूप हैं। उसके उसी रूप रहने को परिणाम या पर्याय कहते हैं। जैसे-जीव की नर नारकादि पर्याय।

प्रश्न-यदि धर्मादिक द्रव्य 'निष्क्रिय' हैं तो उनमें उत्पाद नहीं हो सकता। क्योंकि कुम्हार मिट्टी को चाक पर रखकर जब घुमाता है तभी घड़े की उत्पत्ति होती है। अतः बिना क्रिया के उत्पाद व्यय नहीं हो सकता।

उत्तर- उत्पाद दो प्रकार का है-स्वनिमित्तक और परनिमित्तक। जैनागम में अगुरुलघु नाम के अनन्त गुण माने गए हैं, जो प्रत्येक द्रव्य में रहते हैं। उन गुणों में छह प्रकार की हानि या वृद्धि सदा होती रहती है। उनके निमित्त से द्रव्यों में स्वभाव से ही सदा उत्पाद व्यय हुआ करता है वह स्वनिमित्तक उत्पाद व्यय है तथा धर्मादि द्रव्यें प्रतिसमय अश्व आदि अनेक जीवों और पुद्गलों के गमन करने में, ठहरने में और अवकाश देने में निमित्त होती हैं। और गति वगैरह में प्रतिक्षण परिवर्तन होना स्वाभाविक है। यह परनिमित्तक उत्पाद व्यय है।

।। इति तत्त्वार्थसूत्रे मोक्षशास्त्रे पचमोऽध्यायः समाप्तः।।5।।

आस्राव तत्त्व का वर्णन

षष्ठः अध्यायः

योग के भेद या स्वरूप

काय वाङ्मनः कर्म-योगः।।1।।

अर्थ- काय, वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं। अर्थात् काय, वचन और मन के द्वारा आत्मा के प्रदेशों में हलन चलन होने को योग कहते है।

विशेषार्थ- योग के तीन भेद हैं। **मनोयोग**-मन के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में जो हलन चलन होता है उसे मनोयोग कहते हैं। **वचनयोग**-वचन के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में जो हलन चलन होता है उसे वचनयोग कहते हैं।

काययोग-काय से निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में जो हलन चलन होता हैं उसे काययोग कहते हैं। इन तीनों योगों की उत्पत्ति में वीर्यान्तरायकर्म का क्षयोपशम कारण है।

आस्रव का स्वरूप

स आस्त्रवः।।2।।

अर्थ-वह तीन प्रकार का योग ही आस्रव है। जिस प्रकार कुएँ के भीतर पानी आने में झिरें कारण होती हैं उसी प्रकार आत्मा में कर्म आने में योग कारण है। कर्मों के आने के द्वार को आस्रव कहते हैं।

योग के निमित्त से आस्रव के भेद

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य।।3।।

अर्थ-(शुभः) शुभयोग (पुण्यस्य) पुण्यकर्म के आस्रव का और (अशुभः) अशुभयोग (पापस्य) पापकर्म के आस्रव का कारण है।

विशेषार्थ- जो योग शुभ परिणामों के निमित्त से होता है उसे शुभयोग कहते हैं। जैसे-अरिहन्त की भक्ति करना, जीवों की रक्षा करना आदि।

अशुभयोग- जो योग अशुभ परिणामों के निमित्त से होता है उसे अशुभयोग कहते हैं। जैसे-जीवों की हिंसा करना, झूठ बोलना आदि।

पुण्य- जो आत्मा को पवित्र करता है उसे पुण्य कहते हैं।

पाप- जो आत्मा को शुभ से बचाता है। उसे पाप कहते हैं।

स्वामी की अपेक्षा आस्रव के भेद

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः।।4।।

अर्थ-कषायसहित जीव के साम्परायिक आस्रव और कषायरहित जीव के ईयापथ आस्रव होता है। **कषाय**-जो आत्मा को कसता, दुःख देता या पराधीन करता है उसे कषाय कहते हैं। जैसे-क्रोध, मान, माया, लोभ।

विशेषार्थ-आस्रव के दो भेद हैं-साम्परायिक और ईर्यापथ। **साम्परायिक आस्रव**- जिस आस्रव का संसार ही प्रयोजन है उसे साम्परायिक आस्रव कहते हैं। **ईर्यापथ आस्रव**- स्थिति और अनुभाग रहित कर्मों के आस्रव को ईर्यापथ आस्रव कहते हैं।

नोट-ईर्यापथ आस्रव 11 वें से 13 वें गुणस्थान तक के जीवों के होता है, और उससे पहले गुणस्थानों में साम्परायिक आस्रव होता है। 14वें गुणस्थान में आस्रव का सर्वथा अभाव हो जाता है।

साम्परायिक आस्रव के भेद

इन्द्रिय-कषाया-व्रत-क्रियाः पञ्चचतुः पञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः।।5।।

अर्थ-पांच इन्द्रियाँ, चार कषाय, पांच अव्रत और पच्चीस क्रियायें ये साम्परायिक आस्रव के भेद हैं अर्थात् इन 39 भेदों के द्वारा साम्परायिक कर्म का आस्रव होता है। पच्चीस क्रियायें- 1. सम्यक्त्व को बढ़ाने वाली देवपूजा आदि क्रिया को **सम्यक्त्व क्रिया** कहते हैं। 2. मिथ्यात्व को बढ़ाने वाली कुदेवपूजा आदि क्रिया को **मिथ्यात्व क्रिया** कहते हैं। 3. शरीरादि से गमनागमन रूप प्रवृत्ति करना **प्रयोग क्रिया** है। 4. संयमी का असंयम के सन्मुख होना **समादान क्रिया** है। 5. ईर्यापथ से गमन के लिए जो क्रिया होती है उसे **ईर्यापथ क्रिया** कहते हैं। 6. क्रोध के आवेश से द्वेषादिक रूप जो क्रिया होती है वह **प्रादोषिकी क्रिया** है। 7. मारना, गाली देना आदि दुष्टता-पूर्वक उद्यम करना **कायिकी क्रिया** है। 8. हिंसा के उपकरण तलवार छुरी आदि का ग्रहण करना **अधिकरण की क्रिया**

है। 9. प्राणियों को दु:ख उत्पन्न करने वाली क्रिया **पारितापिकी क्रिया** है। 10. दूसरे के शरीर, इन्द्रिय आदि प्राणों का वियोग करना **प्राणातिपति की क्रिया** है। इन पांच क्रियाओं में पर हिंसा की मुख्यता है।

11. राग के वशीभूत होकर मनोहर रूप देखना **दर्शन क्रिया** है। 12. राग के वशीभूत होकर वस्तु का स्पर्श करना **स्पर्शन क्रिया** है। 13. विषयों की नई-नई सामग्री जुटाना **प्रात्यायिकी क्रिया** है। 14. स्त्री पुरुष अथवा पशुओं के बैठने तथा सोने आदि के स्थान में मलमूत्रादि क्षेपण करना **समन्तानुपात क्रिया** है। 15. बिना देखी, बिना शोधी हुई भूमि पर उठना बैठना **अनाभोग क्रिया** है। इन पांचों क्रियाओं का संबंध इन्द्रियों के भोगों से है। 16. दूसरे के द्वारा करने योग्य काम को स्वयं करना **स्वहस्त क्रिया** है। 17. पाप की कारण प्रवृत्ति को भला समझना **निसर्ग क्रिया** है। 18. पर के द्वारा किए हुए पापों का प्रकाशित कर देना **विदारण क्रिया** है। 19. चारित्रमोह के उदय से शास्त्रोक्त आवश्यकादि क्रियाओं के करने में असमर्थ होने पर उनका अन्यथा निरूपण करना **आज्ञाव्यापादिकी क्रिया** है। 20. प्रमाद अथवा अज्ञान के वशीभूत होकर आगमोक्त क्रियाओं का अनादर करना **अनाकांक्षा-क्रिया** है। इन पांचों क्रियाओं से धर्माचरण में धक्का लगता है। 21. छेदन, भेदन आदि क्रियाओं में स्वयं प्रवृत्त होना तथा अन्य को प्रवत्त देखकर प्रसन्न होना **आरम्भक क्रिया** है। 22. परिग्रह की रक्षा में लगे रहना पारिग्रहिकी क्रिया है। 23. ज्ञान, दर्शन आदि में कपटरूप प्रवृत्ति करना **माया क्रिया** है। 24. प्रशंसा आदि से किसी को मिथ्यात्वरूप परिणति में दृढ़ करना **मिथ्यादर्शन क्रिया** है। 25. चारित्र मोहनीय के उदय से त्याज्य वस्तुओं में त्यागरूप प्रवृत्ति नहीं होना **अप्रत्याख्यान क्रिया** है। इन पांच क्रियाओं में धर्मधारण में विमुखता रहती है।

आस्रव की विशेषता में कारण

तीव्र-मन्द-ज्ञाताज्ञात-भावधिकरण-वीर्य-विशेषेभ्यस्तद्विशेष:।।6।।

अर्थ-तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण विशेष और वीर्यविशेष से आस्रव में विशेषता (हीनाधिकता) होती है।

विशेषार्थ- तीव्रभाव-क्रोधादि कषायों की तीव्रता से जो क्रोधादिभाव होता है उसे तीव्र भाव कहते हैं। **मन्दभाव**-कषायों की मन्दता से जो भाव होता है उसे 'मन्दभाव' कहते हैं। **ज्ञातभाव**-बुद्धि पूर्वक हुए भाव को 'ज्ञातभाव' कहते हैं। **अज्ञातभाव**-बिना जाने असावधानी से हुये भाव को 'अज्ञातभाव' कहते हैं। **अधिकरण**-आस्रव के आधार को 'अधिकरण' कहते हैं। **वीर्य**-द्रव्य की शक्ति विशेष को वीर्य कहते हैं।

अधिकरण के भेद

अधिकरणं जीवाजीवाः।।7।।

अर्थ-आस्रव के अधिकरण के दो भेद हैं। जीव और अजीव अर्थात् आस्रव के आधार जीव और अजीव दोनों हैं।

जीवाधिकरण के भेद

आद्यं संरम्भ-समारम्भारम्भ-योग-कृतकारितानुमत कषाय-विशेषै-स्त्रि-स्त्रित्रिश्चतुश्-चैकशः।।8।।

अर्थ -(आद्यम्) आदि का जीवाधिकरण आस्रव (संरम्भसमारम्भारम्भयोग कृतकारितानुमतकषायविशेषैः) समरम्भ, समारम्भ, आरम्भ, योग, कृत, कारित, अनुमोदना तथा कषायों की विशेषता से (एकशः) प्रत्येक (त्रिः त्रिः त्रिः चतुः) तीन, तीन, तीन, चार के भेद से 108 भेदरूप है।

विशेषार्थ- समरम्भादि तीनों में तीन योगों का गुणा करने से 9 भेद हुए। इन भेदों में कृत आदि तीन से गुणा करने पर 27 भेद हुए। और इन 27 भेदों में 4 कषायों का गुणा करने से जीवाधिकरण आस्रव के कुल 108 भेद हैं।

समरम्भ- हिंसादि पापों के करने का मन में संकल्प।

समारम्भ- हिंसादि पापों के साधन मिलाना समारम्भ है।

आरम्भ- हिंसादि पापों के करने का प्रारम्भ कर देना।

कृत- स्वयं करना कृत है।

कारित- दूसरों से कराना कारित है।

अनुमत- दूसरों के द्वारा किए कार्य की सराहना अनुमत है।

अजीवाधिकरण के भेद

निर्वर्तना-निक्षेप-संयोग-निसर्गा-द्वि-चतु-र्द्वि-त्रिभेदाः परम्।।9।।

अर्थ-दो प्रकार की निर्वर्तना, चार प्रकार का निक्षेप, दो प्रकार का संयोग और तीन प्रकार का निसर्ग। इस तरह अजीवाधिकरण के 11 भेद हैं।

निर्वर्तना-रचना करने को निर्वर्तना कहते हैं। इसके दो भेद हैं। मूलगुणनिर्वर्तना और उत्तरगुणनिर्वर्तना। शरीर, मन तथा श्वासोच्छ्वास की रचना मूलगुण निर्वर्तना है और काष्ठ, मिट्टी आदि के चित्र वगैरह की रचना **उत्तरगुणनिर्वर्तना** है।

निक्षेप-वस्तु के रखने को निक्षेप कहते हैं। इसके चार भेद हैं अप्रत्यवेक्षितानिक्षेपाधिकरण, दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण, सहसानिक्षेपाधिकरण और अनाभोगनिक्षेपाधिकरण।

बिना देखे किसी वस्तु को रखना अप्रत्यवेक्षितनिक्षेप है। यत्नाचार रहित होकर असावधानी से वस्त रखने को दु:प्रमृष्ट निक्षेप कहते हैं। शीघ्रता से वस्तु का रखना सहसानिक्षेप है और किसी वस्तु को योग्यस्थान में न रखकर बिना देखे शोधे स्थान में वस्तु का रख देना अनाभोग निक्षेप है।

संयोग- अनेक वस्तु के मिला देने का नाम संयोग है। इसके दो भेद हैं। भक्तपानसंयोग और उपकरणसंयोग कमण्डलु, आदि उपकरणों को दूसरे की पिच्छी आदि से मार्जन करना उपकरणसंयोग है। शीत उष्ण उपकरणों को मिला देना सचित्त और अचित्त आहार पानी को दूसरे आहार पानी में मिला देना भक्तपान संयोग है।

निसर्ग- प्रवृत्ति करने को निसर्ग कहते हैं। इसके तीन भेद है। कायनिसर्ग -काय से होने वाली प्रवृत्ति कार्य निसर्ग है । वाक्निसर्ग-वचन से होने वाली प्रवृत्ति वाक्निसर्ग है मनोनिसर्ग-मन से होने वाली प्रवृत्ति। मनोनिसर्ग है।

ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव के कारण

तत्प्रदोष-निह्नव-मात्सर्यान्तरा-या-सादनो-पघाता ज्ञान-दर्शना-वरणयो:।।10।।

अर्थ- क्रम से ज्ञान और दर्शन के विषय में प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात से क्रमशः ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्म का आस्रव होता है।

प्रदोष- किसी धर्मात्मा के द्वारा की गई तत्त्वज्ञान की प्रशंसा नहीं सुहाना और ईर्ष्या करना प्रदोष है। **निह्नव**-अपने को शास्त्र ज्ञान होते हुए भी किसी के पूछने पर कह देना कि मैं नहीं जानता निह्नव है।

मात्सर्य- अपने को शास्त्रज्ञान होते हुये भी दूसरों को इसलिए नहीं बताना कि यदि यह जान जावेगा तो मेरे बराबर हो जावेगा मात्सर्य है।

अन्तराय- किसी के ज्ञानाभ्यास में विघ्न डालना 'अन्तराय' है। जैसे बालक पढ़ रहा है रोशनी बुझादी ! **आसादन**-दूसरे के द्वारा प्रकाशित किए जाने वाले ज्ञान को रोक देना 'आसादान' है। **उपघात**-प्रशस्त ज्ञान में दोष लगाना 'उपघात' है।

असाता वेदनीय के आस्रव के कारण

दु:ख-शोक-तापा-क्रन्दन-वध-परिदेवना-न्यात्म-परोभय-स्थाना-न्यसद्वेद्यस्य।।11।।

अर्थ- (आत्मपरोभयस्थानि) निज, पर तथा दोनों के विषय में स्थित (दु:खशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनानि) दु:ख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन (असद्वेद्यस्य) असातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण हैं।

दुःख- पीड़ारूप परिमाणविशेष को दुःख कहते हैं। **शोक**-अपने उपकारी का वियोग होने पर मन में जो विकलता होती है वह, शोक है। **ताप**-संसार में अपनी निन्दा आदि के हो जाने से संताप होता है वह 'ताप' है।

आक्रन्दन- पश्चाताप से अश्रुपात करते हुए रोना 'आक्रन्दन' है। **वध**- किसी की आयु आदि प्राणों को घात करना 'वध' है। **परिदेवन**-अत्यन्त दुःखी होकर करूणा जनक रूदन करना 'परिदेवन' है।

विशेष- यद्यपि शोक आदि दुःख के ही भेद हैं तथापि दुःख की जातियां बतलाने के लिए उन सबका ग्रहण किया है। ऐसे परिणामों से जो स्वयं दुःखी होता है, और को दुःखी करता है या दोनों को दुःखी करता है उसके असातावेदनीय कर्म का आस्रव होता है।

साता वेदनीय कर्म के आस्रव के कारण

भूत-व्रत्यनुकम्पा-दान-सराग-संयमादि-योगः क्षान्तिः शौच-मिति सद्वेद्यस्य।।12।।

अर्थ- भूत अनुकंपा, व्रती अनुकंमा, दान, सरागसंयम, योग, क्षान्ति, और शौच तथा संयमासंयम, अकामनिर्जरा, बालतप, अर्हद्भक्ति और वैयावृत्ति आदि साता वेदनीयकर्म के आस्रव के कारण हैं।

भूतव्रतीअनुकम्पा-(भूत) = संसार के प्राणी और व्रती-अणुव्रत या महाव्रतधारी पर दया करना भूतव्रतीअनुकम्पा है। **दान**-निज और पर के हित की भावना से वस्तु के देने को दान कहते हैं।

सरागसंयम- पांच इन्द्रिय और मन के विषयों से विरक्त होने तथा छह काय के जीवों की हिंसा न करने को संयम कहते हैं और रागसहित संयम को सरागसंयम कहते हैं।

योग- इन सबको मनोयोगपूर्वक अच्छी तरह धारण करना योग कहलाता है। **क्षान्ति**- क्रोधादि कषाय के अभाव को क्षान्ति कहते हैं। **शौच**-लोभ का त्याग करना शौच है।

संयमासंयम- सम्यग्दृष्टि श्रावक के व्रतों को संयमासंयम कहते हैं। **अकामनिर्जरा**-अपनी इच्छा नहीं होने पर भी परवश कष्ट सहना अकामनिर्जरा है। **बालतप**-मिथ्यादर्शनसहित तपस्या को बालतप कहते हैं।

दर्शनमोहनीय के आस्रव के कारण

केवलि-श्रुत-संघ-धर्म-देवावर्ण-वादो दर्शन-मोहस्य।।13।।

अर्थ- केवली, श्रुत (शास्त्र), संघ (मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका) धर्म और देव को झूठा दोष लगाने से दर्शन मोहनीय कर्म का आस्रव होता है।

अवर्णवाद- जिसमें जो दोष नहीं होता, उसे वह दोष लगाना अवर्णवाद कहलाता हैं। **केवलीवर्णवाद**- केवली ग्रासाहार करके जीवित रहते हैं, इत्यादि कहना केवली का अवर्णवाद है। **श्रुतअवर्णवाद**- शास्त्र में मांसभक्षण का विधान है, ऐसा कहना श्रुत का अवर्णवाद है।

संघअवर्णवाद- उन साधुओं में दोष लगाना संघ अवर्णवाद है। शूद्र हैं, मलिन हैं, निर्लज्ज हैं इत्यादि कहना संघ का अवर्णवाद है। **धर्मअवर्णवाद**-जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए धर्म में कुछ भी गुण नहीं है। इसके सेवन करने वाले असुर होवेंगे। इत्यादि कहना धर्म का अवर्णवाद है।

देवअवर्णवाद- देव मदिरा पीते हैं, मांस खाते हैं, जीवों की बलि से प्रसन्न होते हैं, आदि कहना देव का अवर्णवाद हैं।

चारित्रमोहनीय के आस्रव के कारण

कषायोदयातीव्र-परिणामश्चारित्र-मोहस्य।।14।।

अर्थ- कषाय के उदय से परिणामों में कलुषता होने से चारित्रमोहनीय कर्म का आस्रव होता हैं।

नरकआयु के आस्रव के कारण

बह्वारम्भ-परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः।।15।।

अर्थ-बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह नरक आयु के आस्रव के कारण हैं।

तिर्यंच आयु के आस्रव के कारण

माया तैर्यग्योनस्य।।16।।

अर्थ-मायाचारी तिर्यंच आयु के आस्रव का कारण है।

मनुष्य आयु के आस्रव के कारण

अल्पारम्भ-परिग्रहत्वं मानुषस्य।।17।।

अर्थ-थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रह मनुष्य आयु के आस्रव का कारण है।

मनुष्यायु के आस्रव के अन्य

स्वभाव मार्दवं च।।18।।

अर्थ-स्वभाव से ही सरल परिणामों का होना मनुष्य आयु के आस्रव का कारण है।

नोट- इस सूत्र को पृथक् लिखने का आशय यह है कि इस सूत्र में उक्त स्वभाव-मृदुता देवायु के आस्रव में भी कारण हैं।

चारों आयु के आस्रव का कारण

निःशील-व्रतत्वं च सर्वेषाम्।।19।।

अर्थ-सात शीलों और अहिंसादि पांचों व्रतों का अभाव भी समस्त आयुओं के आस्रव का कारण है।

विशेषार्थ- शील और व्रत का अभाव रहते हुए जब कषायों में क्रमशः अत्यन्त तीव्रता और अत्यन्त मन्दता होती है तभी वे क्रम से चारों आयुओं के आस्रव का कारण होते हैं।

देवआयु के आस्रव के कारण

सराग-संयम-संयमासंय-माकाम-निर्जरा-बाल-तपांसि देवस्य।।20।।

अर्थ-(सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि) सरागसंयम, संयमासंयम, अकाम निर्जरा और बालतप से (देवस्य) देव आयु का आस्रव होता हैं।

देवायु के आस्रव का कारणान्तर

सम्यक्त्वं च।।21।।

अर्थ- सम्यग्दर्शन भी देवायु के आस्रव का कारण है।

विशेषार्थ - यदि सम्यग्दर्शन होने के पूर्व जीव ने किसी गति का बंध नहीं किया है तो सम्यग्दर्शन सहित जीव मरण करके नियम से वैमामिक देवों में उत्पन्न होता है। यदि सम्यग्दर्शन होने के पूर्व नरक गति का बंधकर लिया है तो सम्यग्दर्शन सहित मरकर पहले नरक में जायेगा यदि किसी मनुष्य ने सम्यग्दर्शन के पूर्व मनुष्य या तिर्यंच गति का बंधकर लिया है तो सम्यग्दर्शन सहित मरकर भोगभूमि में मनुष्य या तिर्यंच बनेगा।

अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारण

योग-वक्रता-विसम्वादनं चाशुभस्य नाम्नः।।22।।

अर्थ-योगों की कुटिलता और विसम्वादन अन्यथा प्रवृत्ति से अशुभ नामकर्म का आस्रव होता है।

शुभ नामकर्म के आस्रव के कारण

तद्विपरीतं शुभस्य।।23।।

अर्थ- योगवक्रता और विसंवादन से विपरीत अर्थात् योगों की सरलता और अन्यथा प्रवृत्ति के अभाव से शुभ नामकर्म का आस्रव होता है।

तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव के कारण

दर्शन-विशुद्धिर्विनय-सम्पन्नता शील-व्रतेष्वनति-चारोऽभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग-संवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी- साधु-समाधि-र्वैय्यावृत्य-करण-मर्हदाचार्य-बहुश्रुत-प्रवचन-भक्ति-रावश्यका-परिहाणि र्मार्ग-प्रभावना-प्रवचन-वत्सलत्व-मिति तीर्थकरत्वस्य।।24।।

अर्थ- दर्शन विशुद्धि, विनय संपन्नता, शीलव्रतेष्वनतिचार, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग, संवेग, शक्तिस्त्याग, शक्तितस्तप, साधु समाधि, वैय्यावृत्यकरण, अर्हद्भक्ति, आचार्य भक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचन भक्ति, आवश्यकपारिहानि मार्ग प्रभावना और प्रवचन वत्सलत्व ये सोलह भावनायें तीर्थंकर नामक्रर्म के आस्रव में कारण हैं।

दर्शनविशुद्धि- जिन भगवान अर्हत् परमेष्ठि के द्वारा कथित निर्ग्रंथ स्वरूप मोक्षमार्ग पर रुचि रखना सम्यक् दर्शन है। **विनयसम्पन्नता**- गुणों का, गुरुओं का और गुणगुरुओं का आदर सत्कार करना। **शीलव्रतेष्वनतिचार**- सात शीलों और पांच व्रतों के अतिचार (दोष) हटाना। **अभीक्ष्णज्ञानोपयोग**- निरन्तर ज्ञानाभ्यास में प्रवृत्त रहना।

सम्वेग-संसार के दुखों से भयभीत रहना। **शक्तितस्त्याग**-यथा शक्ति दान देना। **शक्तितस्तप**- यथाशक्ति उपवासादि तप करना। **साधुसमाधि**- दि. साधु के तप में उपस्थित विघ्न को दूर कर उनके संयम की रक्षा करना।

वैय्यावृत्यकरण- रोगी या वृद्ध साधु की सेवा सुश्रूषा करना। **अर्हद्भक्ति**- अरिहन्त की भक्ति (अनुराग) करना। **आचार्यभक्ति**-आचार्य की भक्ति करना। **बहुश्रुतभक्ति**- उपाध्याय की भक्ति करना। **प्रवचनभक्ति**- जिनवाणी की भक्ति करना।

आवश्यकापरिहाणि- छह आवश्यकों में हानि (त्रुटि) न होने देना। **मार्गप्रभावना**- जैनशासन के प्रभाव का प्रकाश करना। और **प्रवचनवत्सलत्व**- गोवत्स की तरह सहधर्मियों से स्नेह करना।

ये सोलह भावनायें तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव के कारण हैं। इन सबका अथवा इनमें से कुछ का पालन करने से तीर्थंकर प्रकृति का आस्रव होता है। किन्तु इनमें एक '**दर्शनविशुद्धि**' का होना आवश्यक है। क्योंकि इसके न होने पर सबके अथवा कुछ के होने पर भी तीर्थंकर प्रकृत्ति का आस्रव नहीं होता। और दर्शनविशुद्धि के होने पर अन्य भावनाओं के अभाव में भी तीर्थंकर प्रकृत्ति का आस्रव होता है।

इस प्रकृत्ति के उदय से समवसरण में अष्टप्रातिहार्यरूप विभूति प्राप्त होती है।

नीचगोत्र के आस्रव के कारण

परात्म-निंदाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्-भावने-च- नीचै-र्गोत्रस्य।।25।।

अर्थ- (परात्मनिंदाप्रशंसे) दूसरे की निंदा करना, अपनी प्रशंसा करना, (च) तथा (सदसद्गुणोच्छानोद्भावने) दूसरे के मौजूद गुणों को छिपाने और अपने अप्रगट गुणों को प्रगट करने से नीचगोत्र कर्म का आस्रव होता है।

उच्चगोत्र कर्म के आस्रव के कारण

तद्विपर्ययौ-नीचैर्वृत्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य।।26।।

अर्थ-(तद्विपर्ययौ) नीचगोत्र के आस्रवों से विपरीत अर्थात् परप्रशंसा, आत्मनिंदा (च) और (नीचैर्वृत्यनुत्सेकौ) नम्रवृत्ति तथा मद का अभाव ये (उत्तरस्य) दूसरे उच्चगोत्र कर्म के आस्रव के कारण है।

अन्तराय कर्म के आस्रव के कारण

विघ्न-करण-मन्तरायस्य।।27।।

अर्थ- पर के दान, लाभ, भोग, उपभोग, तथा वीर्य में विघ्न करना अन्तरायकर्म के आस्रव का कारण है। दान देने में विघ्न करने से दानान्तराय का आस्रव होता है। इसी प्रकार शेष में भी जानना चाहिए।

इति तत्त्वार्थसूत्रे मोक्षशास्त्रे षष्ठोऽध्यायः।।6।।

शुभास्रव का वर्णन

सप्तम अध्याय

व्रत का लक्षण

हिंसाऽनृत-स्तेयाब्रह्म-परिग्रहेभ्यो विरति र्व्रतम्।।1।।

अर्थ-हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पांच पापों का बुद्धिपूर्वक त्याग करने को व्रत कहते हैं।

व्रत के भेद

देश-सर्वतोऽणु-महती।।2।।

अर्थ- व्रत के दो भेद हैं अणुव्रत और महाव्रत। हिंसादि पापों का एकदेश त्याग करने को अणुव्रत कहते हैं। और पांचों पापों का सर्वदेश त्याग करने को महाव्रत कहते हैं।

व्रतों की स्थिरता के कारण

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंचपंच।।3।।

अर्थ- उन व्रतों की स्थिरता के लिए प्रत्येक व्रत की पांच-पांच भावनाएं हैं। भावना-किसी वस्तु का बार-बार चिन्तवन करने को भावना कहते हैं।

अहिंसाव्रत की पांच भावनाएँ

वाङ् मनो-गुप्तीर्यादान-निक्षेपण-समित्यालोकित-पानभोजनानि पंच।।4।।

अर्थ- वाङ्गुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपान भोजन ये पांच अहिंसाव्रत की भावनाएं हैं।

विशेषार्थ- वाङ्गुप्ति-वचन की प्रवृत्ति का रोकना। **मनोगुप्ति**- मन की प्रवृति का रोकना। **ईर्यासमिति**-चलते समय आगे की चार हाथ जमीन देखने का

लक्ष्य रखना। **आदाननिक्षेपणसमिति**-वस्तु को रखते उठाते समय जीवरक्षा का ध्यान रखना और **आलोकितपानभोजन**-भोजन पान ग्रहण करते समय देखने और शोधने का ध्यान रखना। ये पांच अहिंसाव्रत की भावनाएँ हैं।

सत्यव्रत की पांच भावनाएँ

क्रोध-लोभ-भीरूत्व-हास्य-प्रत्याख्याना-न्यनुवीचिभाषणं च पंच।।5।।

अर्थ- क्रोधप्रत्याख्यान-क्रोध का त्याग करना, **लोभप्रत्याख्यान**-लोभ का त्याग करना। **भीरूत्वप्रत्याख्यान**- भय का त्याग करना।

हास्यप्रत्याख्यान- हास्य का त्याग करना और **अनुवीचिभाषण**- शास्त्र की आज्ञानुसार निर्दोष वचन बोलना।

क्रोध, लालच, भय और हंसी से मनुष्य झूँठ बोल सकता है, इसलिए इनसे बचते रहना चाहिए। जब बोले तब ऐसी सावधानी से बोलना चाहिए कि कोई ऐसी बात नहीं निकल जाए जो दूसरे को कष्टकर हो।

अचौर्यव्रत की पांच भावनायें

शून्यागार-विमोचितावास-परो-परोधा-करण-भैक्ष्य-शुद्धि-सधर्माविसंवादाः पंच।।6।।

अर्थ- शून्यागारआवास, विमोचितआवास, परोपरोधाकरण, भैक्ष्यशुद्धि और सधर्माविसम्वाद ये पांच अचौर्यव्रत की भावनाएँ हैं।

विशेषार्थ- शून्यागारवास-पर्वत की गुफा, वृक्ष के पोल आदि निर्जन स्थानों में रहना। **विमोचितावास**- दूसरों के द्वारा छोड़े गए ऊजड़ स्थान में निवास करना। **परोपरोधाकरण**- जहां आप ठहरे हैं वहां दूसरों को ठहरने से नहीं रोकना। **भैक्ष्यशुद्धि**-चरणानुयोग शास्त्र के अनुसार भिक्षा की शुद्धि रखना और **सधर्माविसम्वाद**- सहधर्मी भाइयों से 'यह हमारा है, वह आपका है' इत्यादि कलह नहीं करना।

ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनाएँ

स्त्री-राग-कथा-श्रवण-तन्मनो-हरांग-निरीक्षण पूर्व-रतानु-स्मरण-वृष्येष्ट-रस-स्व-शरीर-संस्कार-त्यागाः पञ्च।।7।।

अर्थ-स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग, तन्मनोहरांगनिरीक्षणत्याग, पूर्वरतानुस्मरणत्याग, वृष्येष्टरसत्याग और स्वशरीरसंस्कारत्याग। ये पांच ब्रह्मचर्यव्रत की भावनायें हैं।

विशेषार्थ- स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग-स्त्रियों में राग बढ़ाने वाली कथाओं के सुनने का त्याग। **तन्मनोहरांगनिरीक्षणत्याग**-स्त्री के सुंदर अंगोपांग के देखने

का त्याग, **पूर्वरतानुस्मरणत्याग**-अव्रत अवस्था में भोगे हुए विषयों के स्मरण का त्याग।

वृष्येष्टरसत्याग- कामवर्धक, गरिष्ट रसों का त्याग और **स्वशरीरसंस्कारत्याग**- अपने शरीर के कामोद्दीपक संस्कारों का त्याग करना। ये पांच ब्रह्मचर्यव्रत की भावनाएँ हैं।

परिग्रहत्याग व्रत की पाँच भावनाएँ

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच।।8।।

अर्थ- पांचों इन्द्रियों के इष्ट विषयों में राग नहीं करना और अनिष्ट विषयों में द्वेष नहीं करना। ये पांच परिग्रहत्याग व्रत की भावनायें हैं।

विशेषार्थ - मनोज्ञा- जो चित्त (मन) के अनुरंचक पदार्थ हैं वे मनोज्ञ हैं अथवा जो मन को इष्ट हो, मन को अच्छा लगे वह मनोज्ञ है।

अमनोज्ञ- जो पदार्थ चित्त के अनुरंजक न हों वे अमनोज्ञ हैं अथवा जो मन को अनिष्ट लगे अथवा मन को अच्छा न लगे वह स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत, इन्द्रियों के इष्ट विषयों में राग नहीं करना और अनिष्ट विषयों में द्वेष नहीं करना परिग्रह त्याग व्रत की भावनायें हैं।

हिंसादि पापों से विरक्त होने की भावना

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम्।।9।।

अर्थ-(हिंसादिषु) हिंसादि पांच पापों के होने पर (इह) इस लोक में तथा (अमुत्र) परलोक में (अपाय वद्यदर्शनम्) सांसारिक और परमार्थिक प्रयोजनों का बिगाड़ तथा निन्दा की प्राप्ति (जायते) होती हैं।

विशेषार्थ- हिंसादि पाप करने से इस लोक तथा परलोक में अनेक आपत्तियां प्राप्त होती हैं और निन्दा भी होती है। इसलिए इनको छोड़ना ही अच्छा है।

विशेषार्थ - अपयाय- स्वर्ग और मोक्ष की प्रयोजक क्रियाओं का विनाश करने वाली प्रवृत्ति अपाय है।

अवद्य-निंदनीय अयोग्य या गर्ह्या।

पापों से विरक्त होने की भावना

दुःखमेव वा।।10।।

अर्थ- ये हिंसादिक पांच पाप दुःखरूप ही हैं ऐसा विचार करना चाहिए।

नोट- यहां कार्य में कारण का उपचार है, क्योंकि हिंसादि तो दुःख के कारण है, परंतु यहां उन्हें कार्य (दुःख) रूप बतलाया है।

सम्यग्दृष्टि की निरंतन चिंतन योग्य भावनाएँ

मैत्री-प्रमोद-कारूण्य-माध्यस्थानि च सत्व-गुणाधिक-क्लिश्य-मानाऽविनयेषु।।11।।

अर्थ- (च) और (सत्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु) सत्त्व, गुणाधिक, क्लिश्यमान और अविनय जीवों में क्रम से (मैत्रीप्रमोदकारूण्यमाध्यस्थानि) मैत्री, हर्ष, करूणा और माध्यस्थ भावना भाना चाहिए। इनके भाने से अहिंसाव्रत दृढ़ होता है।

मैत्री- दूसरों को दुःख न हो ऐसे अभिप्राय को मैत्री भावना कहते हैं। **प्रमोद**- मुख की आकृति के द्वारा हृदय में (अन्तरंगभक्ति) भक्ति और अनुराग का व्यक्त होना प्रमोद हैं।

कारूण्य- दीनों पर दया भाव को कारूण्यभाव कहते हैं। **माध्यस्थ**- राग द्वेष पूर्वक पक्षपात का न करना माध्यमस्थ्य भाव है।

सत्व- कर्मों के फल से जो जीव नाना योनियो में तथा चारों, गतियों में जन्मते मरते हैं। वे सत्व हैं। सत्व का अर्थ है जीव।

गुर्णाधिक - जो सम्यग्ज्ञानादि गुणों में बढ़े-चढ़े है वे गुवाधिक कहलाते है।

क्लिश्यामन- असाता वेदनीय कर्म के उदय से जो दुःखी हैं। वे क्लिश्यमान कहलाते हैं।

अविनेय - जिनमें जीवादि पदार्थों को सुनने व ग्रहण करने का गुण नहीं हैं। जो सम्यक्त्व आदि गुणों से रहित हैं तथा जिनको समझाना शक्य नहीं है। वे अविनेय हैं।

संसार और शरीर के स्वभाव का विचार

जगत्काय-स्वभावौ वा संवेग-वैराग्यार्थम्।।12।।

अर्थ- (संवेगवैराग्यार्थम्) संवेग और वैराग्य के लिए (जगत्काय स्वभावौ) संसार और शरीर के स्वभाव का चिन्तवन करना चाहिए।

हिंसा पाप का लक्षण

प्रमत्त-योगात्प्राण-व्यप-रोपणं हिंसा।।13।।

अर्थ- (प्रमत्तयोगात्) प्रमाद के योग से अथवा (अयत्नाचार मन वचन, काय) से यथासम्भव (प्राणव्यपरोणम्) द्रव्यप्राण या भावप्राण का वियोग करना (हिंसा) हिंसा कहलाती है।

प्रमत्त- कषाय सहित अवस्था को प्रमत्त या प्रमाद कहते हैं।

प्रमाद योग- प्रमाद से युक्त जो आत्मा का परिणाम होता है। वह प्रमाद योग कहलाता है। प्रमाद के 15 भेद-पाँच इन्द्रिय चार कषाय और चार विकथा (स्त्री कथा, राज कथा, चोर कथा भोजन कथा) निद्रा तथा स्नेह।

विशेषार्थ-(1) जिस समय कोई व्रती जीव ईर्यासमिति से गमन करता है, उस समय कोई क्षुद्र जीव अचानक यदि उनके पैर के नीचे आकर दबकर मर जावे तो वह व्रती उसकी हिंसा का भागी नहीं होता, क्योंकि उसके प्रमाद नहीं है।

(2) एक प्राणी किसी प्राणी को मारना चाहता था। पर मौका न मिलने से मार नहीं सका, तो भी वह हिंसा का भागी होगा, क्योंकि वह प्रमादसहित है और उसके अपने भावप्राणों की हिंसा होती है। प्रमाद का अर्थ आत्मस्वरूप की असावधानी भी है।

असत्य का लक्षण

असदभिधानमनृतम्।।14।।

अर्थ-प्रमाद के योग से जीवों को दुःखदायक वा मिथ्यारूप वचन बोलने को असत्य कहते हैं।

चोरी का लक्षण

अदत्तादानं स्तेयम्।।15।।

अर्थ-(अदत्तादानम्) प्रमाद के योग से बिना दी हुई किसी की वस्तु के ग्रहण करने को (स्येतम्) चोरी कहते हैं।

कुशील (अब्रह्म) का लक्षण

मैथुनमब्रह्म।।16।।

अर्थ- मैथुन को अब्रह्म अर्थात् कुशील पाप कहते हैं।

मैथुन-चारित्रमोहनीय का उदय होने पर रागभाव से प्रेरित होकर स्त्री पुरुष के जो एक-दूसरे को स्पर्श की इच्छा होती है। वह मिथुन कहलाता है। मिथुन का कार्य मैथुन है।

परिग्रह पाप का लक्षण

मूर्च्छा परिग्रहः।।17।।

अर्थ- मूर्च्छा को परिग्रह कहते हैं।

मूर्च्छा- बाह्य धन धान्यादि तथा अंतरंग क्रोधादि कषायों में ये मेरे हैं ऐसा भाव मूर्च्छा है। मूर्च्छा को परिग्रह कहते हैं।

परिग्रह - बाह्य धन धान्यादि पदार्थों तथा अंतरंग रागादि, परिणामों में यह मेरा है, इस प्रकार का संकल्प परिग्रह है। क्योंकि इस प्रकार के संकल्प के होने पर संरक्षण आदि रूप भाव होते हैं।

जो चारों तरफ से ग्रहण किया जावे वह परिग्रह है।

व्रती का लक्षण

निःशल्यो व्रती।।18।।

अर्थ- शल्यरहित जीव ही व्रती कहलाता है। जीव के जब तक एक भी शल्य रहती है तब तक जीव व्रती नहीं हो सकता है।

शल्य- जो आत्मा को कांटे की तरह दुःख देता है। उसे शल्य कहते हैं। शल्य के तीन भेद हैं। 1. **मायाशल्य**- छल कपटकरना। 2. **मिथ्यात्त्वशल्य**- तत्त्वश्रद्धा का अभाव और 3. **निदानशल्य**- आगामी काल में इष्ट-विषयों की वांछा।

व्रती के भेद

अगार्यनगारश्च।।19।।

अर्थ- व्रती के दो भेद है। अगारी (गृहस्थ, श्रावक) और अनगारी (गृहत्यागी साधु)।

अगारी का लक्षण

अणुव्रतोऽगारी।।20।।

अर्थ-अणु अर्थात् एकदेश व्रत पालने वाला सम्यग्दृष्टि जीव अगारी (सागार) कहलाता है।

अणुव्रत के पांच भेद हैं-अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्यणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणाणुव्रत।

अहिंसाणुव्रत- संकल्प पूर्वक त्रस जीवों की हिंसा का परित्याग अहिंसाणुव्रत है।

सत्याणुव्रत- राग, द्वेष, मोह, भय आदि के वश हो स्थूल असत्य बोलने का त्याग सत्याणुव्रत है।

अचौर्याणुव्रत- स्थूल चोरी का त्याग अचौर्याणुव्रत।

ब्रह्मचर्याणुव्रत- परस्त्री के सेवन का त्याग ब्रह्मचर्याणुव्रत है।

परिग्रह परिमाणाणु व्रत- आवश्यक धन धान्यादि परिग्रह का परिमाण कर शेष का त्याग परिग्रहपरिमाणाणुव्रत है।

अणुव्रत के सहायक सप्त शीलव्रत

दिग्देशा-नर्थ-दण्ड-विरति-सामायिक प्रोषधोप-वासोपभोग-परिभोग-परिमाणा-तिथि-सम्विभाग-व्रत-सम्पन्नश्च।।21।।

अर्थ- व्रती दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थ दण्डव्रत इन तीन गुणव्रतों से तथा सामायिक, प्रोषधोवास, उपभोगपरिभोग परिमाण और अतिथिसंविभागव्रत इन चार

शिक्षाव्रतों से सहित होता है। अर्थात् व्रती श्रावक पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकार बारह व्रतों का धारी होता है।

दिग्व्रत- सूक्ष्म पापों की निवृति के लिए दशों दिशाओं में आने जाने का परिमाण (सीमा) कर आजीवन उस सीमा से बाहर नहीं जाना दिग्व्रत हैं।

देशव्रत- जीवनपर्यन्त के लिए किए हुए दिग्व्रत में और भी संकोच करके, घण्टा, दिन, महिना आदि तक किसी गृह, मुहल्ले आदि तक आना जाना रखना देशव्रत हैं।

अनर्थदण्डव्रत- प्रयोजनरहित पापवर्धक क्रियाओं का त्याग अनर्थदण्डव्रत है। इसके पांच भेद हैं-1. **पापोपदेश**- हिंसा या आरम्भ आदि पापों के कर्मों का उपदेश देना। 2. **हिंसादान**-तलवार आदि हिंसा के उपकरण मांगने पर देना। 3. **अपध्यान**-दूसरे का बुरा विचारना। 4. **दुःश्रुति**- रागद्वेष को बढ़ाने वाले, खोटे शास्त्रों का सुनना। और 5. **प्रमादचर्या**- बिना प्रयोजन यहां वहां घूमना तथा पृथ्वी खोदना आदि।

चार शिक्षाव्रत

सामायिक- समस्त पाप के कार्यों से विरक्त होकर नियत स्थान पर समय के लिए मन वचन काय के एकाग्र करने को सामायिक कहते हैं।

प्रोषधोपवास- पहले और बाद के दिनों में एकाशन के साथ अष्टमी और चर्तुदशी के दिन उपवास आदि करना प्रोषधोपवास कहलाता है।

उपभोग- परिभोग-परिमाणव्रत-परिभोग जो बार बार भोगने योग्य होता है और उपभोग-जो एक बार भोगने योग्य होता है वस्तुओं का परिमाण कर उससे अधिक में ममत्व नहीं करना उपभोग परिभोग परिमाणव्रत है।

अतिथिसंविभागव्रत- अतिथि अर्थात् मुनियों के लिए आहार, कमण्डलु, पिच्छी, वसतिका आदि का दान देना अतिथिसंविभाग व्रत है।

व्रती को सल्लेखना धारण करने का उपदेश

मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता।।22।।

अर्थ- (मारणान्तिकी) मरणकाल उपस्थित होने पर गृहस्थ को (सल्लेखनां) सल्लेखना को (जोषिता) प्रीतिपूर्वक धारण करना चाहिए।

मरण- कर्म के संयोग से प्राप्त इन प्राणों का कारण विशेष से नाश होना मरण कहलाता है।

मारणान्तिक- वर्तमान भव का अवसान मरणान्त है अथवा मरण की सन्निकटता मरणान्त है।

सल्लेखना- इस लोक या परलोक संबंधी किसी प्रयोजन की अपेक्षा बिना शरीर और कषाय का कृश करना सल्लेखना है।

सम्यग्दर्शन के पांच अतिचार

शंका-कांक्षा-विचिकित्सान्य-दृष्टि-प्रशंसा-संस्तवाः सम्यग्दृष्टे-रतीचाराः।।23।।

अर्थ- शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्य दृष्टिसंस्तव ये पांच सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं।

विशेषार्थ- शंका-जिनेंद्रदेव के द्वारा कहे हुए तत्वों में संदेह करना शंका है। **कांक्षा**-इस लोक या परलोक में सांसारिक सुखों की चाह करना कांक्षा है।

विचिकित्सा- दुखी दरिद्री जीवों को अथवा रत्नत्रय से पवित्र परंतु बाह्य में मलिन मुनियों के शरीर को देखकर ग्लानि करना।

अन्यदृष्टिप्रशंसा- मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान तप आदि को मन से अच्छा समझना और **अन्यदृष्टिसंस्तव**- मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान तप आदि की वचन से प्रशंसा करना।

व्रतों और शीलों के अतिचारों की संख्या

व्रत शीलेषु पंच पंच यथाक्रमम्।।24।।

अर्थ- अहिंसा आदि पांच व्रतों और दिग्व्रत आदि सात शीलों में भी क्रम से पांच-पांच अतिचार होते हैं।

अहिंसाणुव्रत के पांच अतिचार

बन्ध-वधच्छेदाति-भारा-रोपणान्न-पान-निरोधाः।।25।।

अर्थ- बंध, वध, छेद, अतिभारारोपण और अन्नपाननिरोध ये पांच अहिंसाणुव्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ- बन्ध-प्राणी को रस्सी या सांकल आदि से बांधना या पिंजरे में बंद कर देना। जैसे- गाय, भैंस को बांधना। **वध**-कोड़ा, बेंत आदि से प्राणियों को मारना जैसे- हाथी को महावत मारता है। **छेद**- नाक, कान आदि अंगों को छेदना। जैसे- घोड़े के पैरों में कीले ठोकना। **अतिभारारोपण**-शक्ति से अधिक भार लादना अथवा शक्ति से बाहर काम लेना। जैसे- कोई पशु पाँच बोरी भार वहन कर सकता है। उस पर 8-10 बोरियाँ भार लादना। **अन्नपाननिरोध**-समय पर खाना पीना नहीं देना। जैसे- गाय, भैंस आदि को भूख प्यास लगने पर अन्न-पान नहीं देना।

सत्याणुव्रत के अतिचार

मिथ्योपदेश-रहोभ्याख्यान-कूटलेख क्रिया न्यासापहार-साकार-मन्त्र-भेदाः।।26।।

अर्थ-मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार, साकारमन्त्रभेद ये पांच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ-मिथ्योपदेश-झूठा और अहितकर उपदेश देना। जैसे - झूठी गवाही देना।

रहोभ्याख्यान-स्त्री और पुरुष की एकान्त में की गई क्रिया को प्रकट करना।

कूटलेखक्रिया- दूसरों को फंसाने के लिए झूँठे दस्तावेज आदि लिखना। जैसे- झूठे कागज बनाना या बनवाना। **न्यासापहार**-किसी की धरोहर का अपहरण करना और **साकारमन्त्र भेद**-हाथ चलाने आदि के द्वारा दूसरे के अभिप्राय को जान कर प्रकाशित कर देना।

अचौर्याणुव्रत के पांच अतिचार

स्तेन-प्रयोग-तदा-हृतादान-विरूद्ध-राज्याति-क्रम-हीनाधिक-मानोन्मान प्रतिरूपक-व्यवहाराः।।27।।

अर्थ- स्तेन प्रयोग, तदाहृतादान, विरूद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिकमानोन्मान और प्रतिरूपक व्यवहार ये पांच अचौर्याणुव्रत के अतिचार है।

विशेषार्थ- स्तेनप्रयोग-चोरी के लिए चोर को प्रेरणा करना, कराना या उसका उपाय बताना। **तदाहृतादान**-चोर के द्वारा चुराए माल को खरीदना। **विरूद्धराज्यातिक्रम**- राजा की आज्ञा के विरूद्ध चलना, प्रवेशकर, आयकर, विक्रयकर आदि नहीं देना। **हीनाधिकमानोन्मान**- लेन-देन के बांट तराजू वगैरह को घट-बढ़ रखना और **प्रतिरूपकव्यवहार**- कीमती वस्तु में कम कीमत की वस्तु मिलाकर असली भाव से बेचना (मिलावट करना)।

ब्रह्मचर्याणुव्रत के पांच अतिचार

पर-विवाह-करणेत्वरिका-परिगृहीता-परिगृहीता-गमनानंग-क्रीडा काम-तीव्राभिनिवेशाः।।28।।

अर्थ-परविवाहकरण, परिगृहीतेत्वरिकागमन, अपरिगृहीतेत्वरिकागमन, अनंग क्रीड़ा और कामतीव्राभिनिवेश ये पांच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ- परविवाहकरण- दूसरे के पुत्र-पुत्रियों का विवाह करना कराना। **परिगृहीतेत्वरिकागमन**-पतिसहित व्यभिचारिणी स्त्रियों के यहां आना

जाना, लेनदेन रखना, रागभावपूर्वक बात करना। **अपरिगृहीतेत्वरिकागमन**-पतिरहित वेश्या आदि व्यभिचारिणी स्त्रियों के यहां आना जाना, लेनदेन आदि का व्यवहार रखना। **अनंगक्रीड़ा**-कामसेवन के लिए निश्चित अंगों को छोड़कर अन्य अंगों से कामसेवन करना। **कामतीव्राभिनिवेश**- कामसेवन की तीव्र अभिलाषा रखना।

परिग्रहपरिमाणाणुव्रत के अतिचार

क्षेत्र-वास्तु-हिरण्य-सुवर्ण-धन-धान्य-दासी-दास-कुप्य-प्रमाणातिक्रमाः।।29।।

अर्थ-क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रम, हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम, धनधान्यप्रमाणातिक्रम, दासीदासप्रमाणातिक्रम और कुप्यप्रमाणातिक्रम ये पांच परिग्रहपरिमाणव्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ- क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रम-खेत तथा मकान के प्रमाण का उल्लंघन करना। **हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम**- चांदी और सोने के प्रमाण का उल्लंघन करना। **धनधान्यप्रमाणातिक्रम**- पशु तथा अनाज के प्रमाण का उल्लंघन करना। **दासीदासप्रमाणातिक्रम**-नौकर-नौकरानियों के प्रमाण का उल्लंघन करना **कुप्यप्रमाणातिक्रम**- वस्त्र या बर्तन के प्रमाण का उल्लंघन करना।

दिग्व्रत के अतिचार

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि।।30।।

अर्थ- ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यनुपस्थान ये पांच दिग्व्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ- ऊर्ध्वव्यतिक्रम-परिमित मर्यादा से अधिक ऊँचाई वाले पर्वत आदि पर चढ़ना। **अधोव्यतिक्रम**-मर्यादा से अधिक नीचाई वाले कुएँ आदि में उतरना। **तिर्यग्व्यतिक्रम**-मर्यादा के बाहर आठ दिशाओं में भ्रमण करना। **क्षेत्रवृद्धि**- मर्यादित क्षेत्र को बढ़ा लेना। **स्मृत्यनुपस्थान**-की हुई मर्यादा को भूल जाना।

देशव्रत के अतिचार

आनयन-प्रेष्यप्रयोग-शब्द-रूपानुपात-पुद्गलक्षेपाः।।31।।

अर्थ- आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप ये पांच देशव्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ- आनयन-मर्यादा से बाहर के क्षेत्र की वस्तु को किसी के द्वारा मंगाना या बुलाना। **प्रेष्यप्रयोग**- मर्यादा के बाहर कार्यवश नौकर आदि को भेजकर इच्छित कार्य की सिद्धि करना।

शब्दानुपात- खांसी आदि के शब्द द्वारा मर्यादा से बाहर वाले आदमियों को अपना अभिप्राय समझा देना। **रूपानुपात**-मर्यादा से बाहर रहने वाले आदमियों को अपना रूप दिखाकर इशारा करना **पुद्गलक्षेप**- मर्यादा के बाहर कंकर-पत्थर फेंककर अपने कार्य की सिद्धि कर लेना।

अनर्थदण्डव्रत के अतिचार

कन्दर्प-कौत्कुच्य-मौखर्या-समीक्ष्याधिकरणोपभोग-परिभोगान-र्थक्यानि।।32।।

अर्थ- कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण, उपभोगपरिभोगानर्थक्य ये पांच अनर्थदण्डव्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ-कन्दर्प, राग से हास्यसहित अशिष्ट वचन बोलना। **कौत्कुच्य**-हास्य और अशिष्ट वचन के साथ शरीर से भी कुचेष्टा करना। **मौखर्य**-धृष्टतापूर्वक आवश्यकता से अधिक बकवास करना। **असमीक्ष्याधिकरण**- बिना प्रयोजन मन, वचन काय की अधिक प्रवृत्ति करना और **उपभोगपरिभोगानर्थक्य**-भोग और उपभोग पदार्थों का जरूरत से अधिक संग्रह।

सामायिक शिक्षाव्रत के अतिचार

योग-दुष्प्रणिधा-नानादर-स्मृत्यनुपस्थानानि।।33।।

अर्थ- कायदुष्प्रणिधान, वाग्दुष्प्रणिधान, मनोदुष्प्रणिधान, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान ये पांच सामायिक शिक्षाव्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ- कायदुष्प्रणिधान-सामायिक करते समय शरीर को निश्चल नहीं रखना। **वाग्दुष्प्रणिधान**-सामायिक के मंत्रादिक को अशुद्ध और जल्दी बोलना। **मनोदुष्प्रणिधान**-सामायिक में मन को नहीं लगाना। **अनादर**-सामायिक के प्रति उत्साह न होना **स्मृत्यनुपस्थान**-चित्त की चंचलता से पाठ वगैरह भूल जाना।

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के अतिचार

अप्रत्य-वेक्षिता-प्रमार्जितोत्सर्गादान-संस्तरो-पक्रमणानादर-स्मृत्यनुपस्थानानि।।34।।

अर्थ-अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान ये पांच प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ- अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग-बिना देखी और बिना शोधी हुई जमीन में मलमूत्र वगैरह करना। **अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान**-बिना देखे बिना शोधे हुए वस्त्र चटाई आदि का बिछाना। **अनादर**-उपवास के कारण भूख प्यास से व्याकुल होने के कारण आवश्यक धर्मकार्यों में उत्साह न होना **स्मृत्यनुस्थान**-करने योग्य आवश्यक धर्मकार्यों को भूल जाना।

भोगोपभोगपरिमाणव्रत के अतिचार

सचित्त-संबंधसम्मिश्राभिषव-दुः पक्काहाराः।।35।।

अर्थ- सचित्तहार ,सचित्तासंबंधाहार, सचित्तासम्मिश्राहार, अभिषवाहार और दु:पक्काहार ये पांच भोगोपभोगोपरिमाणव्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ- **सचित्ताहार**-सचेतन (अंकुरोत्पादनसमर्थ वा हरे फूल, फल पत्र वगैरह) खाना। **सचित्तसंबंधाहार**-सचित्त वस्तु से संबंध को प्राप्त हूई वस्तु खाना। **सचित्तसम्मिश्राहार**-सचित्त वस्तु से मिश्रित वस्तु का खाना। **अभिषवाहार**- जिस आहार से मानव बैल के समान कामी होता है ऐसा कामोत्पादक आहार अभिषवाहार कहलाता है।

दु:पक्कआहार- जो ठीक से पका नहीं है। अर्द्धपक्क है अति गीला होने से दुष्टपक्क है जला हुआ है उसे भी दुष्पक्क कहते हैं।

अतिथि संविभाग शिक्षाव्रत के अतिचार

सचित्त-निक्षेपापिधान-परव्यपदेश-मात्सर्य-कालाति-क्रमाः।।36।।

अर्थ- सचित्तनिक्षेप, सचित्तापिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम ये पांच अतिथिसंविभागव्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ- **सचित्तनिक्षेप**-सचित्त कमलपत्र आदि में रखा आहार देना। **सचित्तापिधान**-सचित्तपत्र आदि से ढका आहार देना। **परव्यपदेश**-दूसरे दातार की वस्तु स्वयं दान देना अथवा अपने हाथ की वस्तु दूसरे से दान दिलवाना। **मात्सर्य**- दान में आदर का अभाव अथवा दूसरे दाता से ईर्षा करना और **कालातिक्रम**- योग्य काल का उल्लंघन कर अकाल में आहार दान देना।

सल्लेखना के अतिचार

जीवित-मरणाशंसा-मित्रानुराग-सुखानुबन्ध-निदानानि।।37।।

अर्थ- जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान से पांच सल्लेखना के अतिचार हैं।

विशेषार्थ- **जीवितशंसा**-सल्लेखनाधारण करने के बाद अधिक जीने की चाह। **मरणाशंसा**-रोगादि की वेदना से व्याकुल होकर शीघ्र मरने की चाह। **मित्रानुराग**-मित्रों का स्मरण करना। **सुखानुबन्ध**- पूर्वकाल में भोग हुए सुखों की याद **निदान**-आगामी काल में भोगों की चाह रखना।

विशेष- ऊपर कहे हुए 70 अतिचारों का त्यागी ही निर्दोष व्रती हो सकता हैं।

दान में विशेषता

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्।।38।।

अर्थ- (अनुग्रहार्थम्) अपने और पर के उपकार के लिए (स्वस्य) अपने धन का (अतिसर्गः) देना (दानम्) दान हैं।

विशेषार्थ- दान देने में अपना उपकार तो यह है कि पुण्य बन्ध और लोभ का परिहार होता है। और पर का उपकार यह है कि दान लेने वाले को धर्मसाधन में सहायता मिलती हैं।

दान के फल में विशेषता

विधि-द्रव्य-दातृ-पात्र-विशेषात्तद्विशेषः।।39।।

अर्थ- विधिविशेष, द्रव्यविशेष, दातृविशेष और पात्रविशेष से दान में विशेषता होती है।

विशेषार्थ- **विधिविशेष**-नवधाभक्ति के क्रम को विधिविशेष कहते हैं। **द्रव्यविशेष**-तप और स्वाध्याय आदि की वृद्धि में कारण आहार की सात्विकता को द्रव्यविशेष कहते हैं।

दातृविशेष- दाता की श्रद्धा आदि सप्तगुण को दातृविशेष कहते हैं और पात्रविशेष-पात्र के ज्ञानी, ध्यानी, गुणी और तपस्वी होने को पात्रविशेष कहते हैं।

इति तत्वार्थसूत्रे मोक्षशास्त्रे सप्तमोऽध्यायः समाप्तः।।7।।

* * *

बन्धतत्त्व का वर्णन

अष्टम अध्याय

बन्ध के कारण

मिथ्या-दर्शनाऽविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः ।।1।।

अर्थ-मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पांच कर्मबन्ध के कारण है।

मिथ्यादर्शन-अतत्वों के श्रद्धान को अथवा तत्वों का श्रद्धान न होने को मिथ्यादर्शन कहते हैं। इसके दो भेद हैं-गृहीतमिथ्यादर्शन और अगृहीतमिथ्यादर्शन। **गृहीतमिथ्यादर्शन**-दूसरों के उपदेश से जो अतत्वश्रद्धान होता है उसे गृहीतमिथ्यादर्शन कहते हैं।

अगृहीतमिथ्यादर्शन-परोपदेश के बिना ही केवल मिथ्यात्व कर्म के उदय से जो मिथ्याश्रद्धान होता हैं उसे अगृहीतमिथ्यादर्शन कहते हैं।

मिथ्यादर्शन के 5 भेद और भी हैं-एकान्त, विपरीत, संशय, वैयनिक और अज्ञान। **एकान्त मिथ्यादर्शन**-अनेक धर्मरूप वस्तु का एकधर्मरूप श्रद्धान एकान्त मिथ्यादर्शन कहलाता है। जैसे-वस्तु अनित्य ही है या नित्य ही है। सत् ही है, असत् ही है इत्यादि श्रद्धान।

विपरीत मिथ्यात्व- परिग्रह सहित भी गुरू हो सकता है। केवली कवलाहार करते हैं, स्त्री को भी मोक्ष प्राप्त हो सकता हैं इत्यादि उल्टा श्रद्धान विपरीतमिथ्यादर्शन कहलाता है।

संशय मिथ्यात्व- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष के मार्ग हैं या नहीं? ऐसी द्विविधा को संशय मिथ्यात्व कहते हैं। **वैनयिक मिथ्यात्व**- सब प्रकार के देवों तथा सब प्रकार के मतों में समान श्रद्धा को वैनयिक मिथ्यात्व कहते

हैं। **अज्ञानमिथ्यात्व**-हित और अहित के विचार रहित श्रद्धा को अज्ञान मिथ्यात्व कहते हैं।

अविरति- छह काय के जीवों की हिंसा के त्याग न करने और पांचों इन्द्रियों तथा मन को विषयों में जाने से न रोकने को अविरति कहते हैं। इसके पृथ्वीकायिकाविरति, जलकायिकाविरति इत्यादि बारह भेद हैं।

प्रमाद- समिति, गुप्ति, शुद्धि और धर्म इत्यादि अच्छे कार्यों में अनुत्साह को प्रमाद कहते हैं। इसके चार विकथा चार कषाय पांच इन्द्रिय निद्रा और प्रणय (स्नेह) पन्द्रह भेद हैं।

कषाय- जो आत्मा को कषता या दुख देता है उसे कषाय कहते हैं। अनन्तानुबंधी, अप्रत्यख्यानावरण, प्रत्यख्यानावरण और संज्वलन ये सब, क्रोध, मान, माया, लोभ, रूप होती हैं ये कुल सोलह कषाय और नोकषाय हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसंक वेद ये पच्चीस कषाय हैं।

योग- मन, वचन, काय के व्यापार को योग कहते हैं इसके 15 भेद हैं। चार मनोयोग, चार वचनयोग और सात काययोग।

4 **मनोयोग**- सत्य, असत्य, उभयख अनुभय। **4 वचन योग**-सत्य, असत्य, उभय, अनुभय। 7 काययोग- औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रियक, वैक्रियक मिश्र, आहारक, आहारक मिश्र और कार्मणकाय योग।

बन्ध का लक्षण

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्‌गलानादत्ते स बन्धः।।2।।

अर्थ- (जीवः) जीव (सकषायत्वात्) कषायवान होने से (कर्मणः) कर्म के (योग्यान्) योग्य (पुद्‌गलान्) कार्मण वर्गणा रूप स्कन्धों को (आदत्ते) ग्रहण करता है। (सः) वह पुद्‌गलिक स्कन्धों का ग्रहण (बन्धः) बन्ध (कथ्यते) कहलाता है।

विशेषार्थ -कार्मण वर्गणा रूप पुद्गल सम्पूर्ण लोक में ठसाठस भरे हुए हैं। कषाय के निमित्त से आत्मा के साथ उनका संबंध हो जाता है, वह बन्ध कहलाता है।

बन्ध के भेद

प्रकृति-स्थित्यनुभव-प्रदेशास्तद्विधयः।।3।।

अर्थ-बन्ध के चार भेद हैं। प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेश बन्ध।

प्रकृतिबन्ध- कर्मों में ज्ञानादिक के ढकने का स्वभाव प्रकृतिबन्ध कहलाता है। जैसे- नीम की प्रकृति कडुआपन। **स्थितिबन्ध**-ज्ञानावरण आदि कर्मों का अपने स्वभाव से च्युत नहीं होना स्थितिबन्ध है। जैसे- बकरी, गाय, भैंस आदि

के दूध का माथुर्य स्वभाव से च्युत ना होना स्थिति है। **अनुभागबन्ध**-ज्ञानावरणीय कर्मों में तीव्र या मन्द आदि फल देने की शक्ति को अनुभागबन्ध कहते हैं। जिस प्रकार बकरी, गाय, और भैंस आदि के दूध का अलग-अगल तीव्र मंद आदि रूप से रस (माघुर्यगुण) विशेष होता है। **प्रदेशबन्ध**-ज्ञानावरणादि कर्मरूप हुए पुद्गल स्कन्धों के परमाणुओं की संख्या को प्रदेशबन्ध कहते हैं।

विशेषार्थ- इनमें प्रकृति और प्रदेशबन्ध योग से होते हैं तथा स्थिति और अनुभाग बन्ध कषाय से होते हैं।

प्रकृति बन्ध के मूल भेद

आद्यो-ज्ञान-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीया-युर्नाम-गोत्रान्तरायाः।।4।।

अर्थ- पहले प्रकृतिबन्ध के आठ भेद हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।

ज्ञानावरण- जिस कर्म के उदय या निमित्त से आत्मा के ज्ञानगुण पर आवरण पड़ता है। उसे ज्ञानावरण कहते हैं।

दर्शनावरण- जिस कर्म के उदय या निमित्त से आत्मा के दर्शन गुण पर आवरण पड़ता है उसे दर्शनावरण कहते हैं।

वेदनीय- जिस कर्म के उदय या निमित्त से सुख-दुख होता हैं उसे वेदनीय कहते है। मोहनीय-जिसके उदय से जीव अपने स्वरूप को भूलकर अन्य को अपना समझने लगता है उसे मोहनीय कहते हैं।

आयु-जिस कर्म के उदय या निमित्त से जीव को नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव में से किसी एक के शरीर में रूका रहना पड़ता है उसे आयुकर्म कहते हैं।

नाम- जिस कर्म के उदय या निमित्त से शरीर और अंगोपांग आदि की रचना होती है उसे नामकर्म कहते हैं।

गोत्र- जिस कर्म के उदय या निमित्त से जीव ऊँच या नीच कुल में पैदा होता है उसे गोत्रकर्म कहते हैं।

विशेष- ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, और अन्तराय ये चार कर्म घातिया (जीव के अनुजीवी गुणों के घातक) हैं और शेष चार कर्म अघातिया (प्रतिजीवी गुणों के घातक) हैं।

प्रकृतिबन्ध के उत्तरभेद

पंच-नव-द्वयष्टा-विंशति-चतुर्द्वि-चत्वारिंशद्-द्विपंच भेदा-यथाक्रमम्।।5।।

अर्थ- ज्ञानावरणदि कर्मों के क्रम से पांच, नौ, दो, अठ्ठाइस, चार, ब्यालीस, दो और पांच भेद हैं।

यथा- ज्ञानावरण के 5, दर्शनावरणा के 9, वेदनीय के 2, मोहनीय के 28, आयु के 4, नामकर्म के 42, गोत्र के 2, अंतराय के 5 है।

ज्ञानावरण के पांच भेद

मति-श्रुतावधिमनः-पर्ययकेवलानाम्।।6।।

अर्थ-मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनः पर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ये पांच ज्ञानावरण कर्म के भेद हैं।

विशेषार्थ- मतिज्ञानावरण-जिस कर्म के उदय से मतिज्ञान पर आवरण होता है। **श्रुतज्ञानावरण**-जिस कर्म के उदय से श्रुतज्ञान पर आवरण पड़ता है। **अवधिज्ञानावरण**-जिस कर्म के उदय से अवधिज्ञान पर आवरण पड़ता हैं।

मनः पर्ययज्ञानावरण-जिस कर्म के उदय से मनः पर्ययज्ञान पर आवरण पड़ता है और **केवलज्ञानावरण**-जिस कर्म के उदय से केवलज्ञान पर आवरण पड़ता है।

दर्शनावरण के नौ भेद

चक्षु-रचक्षु-रवधि-केवलानां निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला-प्रचलाप्रचला-स्त्यानगृद्धयश्च।।7।।

अर्थ-चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगगृद्धि ये नौ दर्शनावरणकर्म के भेद हैं।

चक्षुदर्शनावरण-जिस कर्म के उदय से चक्षु इन्द्रिय से होने वाले सामान्य अवलोकन का घात होता हैं उसे चक्षुदर्शनावरण कहते हैं। **अचक्षुदर्शनावरण**-जिस कर्म के उदय से चक्षु इन्द्रिय को छोड़कर शेष इन्द्रियों तथा मन से होने वाले सामान्य अवलोकन का घात होता है उसे अचक्षुदर्शनावरण कहते हैं।

अवधिदर्शनावरण- जिस कर्म के उदय से अवधिज्ञान के पहले होने वाले सामान्य अवलोकन का घात होता है उसे अवधिदर्शनावरण कहते हैं। **केवल दर्शनावरण**-जिस कर्म के उदय से केवलज्ञान के साथ-साथ होने वाले सामान्य अवलोकन का घात होता है उसे केवलदर्शनावरण कहते हैं। **निद्रा**-जिस कर्म के उदय से निद्रा आती है उसे निद्रादर्शनावरण कहते हैं। **निद्रानिद्रा**-जिस कर्म के उदय से नींद पर नींद आती है उसे निद्रानिद्रा कहते हैं। **प्रचला**- जिस कर्म के उदय से प्राणी कुछ जागता है और कुछ सोता है उसे प्रचला कहते है।

प्रचला-प्रचला- जिस कर्म के उदय से सोते समय मुख से लार बहती है और कुछ अंगोपांग भी चलते हैं तथा सुई आदि चुभाने पर भी चेत नहीं होता उसे

प्रचलाप्रचला कहते है। **स्त्यानगृद्धि**- जिस कर्म के उदय से प्राणी सोते समय नाना प्रकार के भयंकर कार्य कर डालता है और जागने पर कुछ मालूम ही नहीं होता कि मैंने क्या किया है, उसे स्त्यानगृद्धि कहते हैं।

वेदनीय के दो भेद

सदसद्-वेद्ये।।8।।

अर्थ-सद्वेद्य और असद्वेद्य ये दो वेदनीयकर्म के भेद हैं।

सद्वेद्य-जिस कर्म के उदय से शारीरिक तथा मानसिक सुख प्राप्त होता है उसे सद्वेद्य कहते हैं। **असद्वेद्य**-जिस कर्म के उदय से तरह-तरह का दुःख प्राप्त होता हैं उसे असद्वेद्य कहते हैं।

मोहनीय कर्म के 28 भेद

दर्शन-चारित्र-मोहनी-याकषाय-कषाय-वेदनीया-ख्यास्त्रिद्वि-नव-षोडश-भेदाः सम्यक्त्व-मिथ्यात्वयतदुभयान्यकषाय-कषायौ हास्य-रत्यरति-शोक-भयजुगुप्सा-स्त्रीपुंनपुंसक-वेदा अनन्ता-नुबन्ध्यप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान-संज्वलन-विकल्पाश्चैकशः क्रोध-मान-मायालोभाः।।9।।

अर्थ- दर्शन मोहनीय चारित्र मोहनीय, अकषाय वेदनीय और कषाय वेदनीय इनके क्रम से तीन, दो, नौ और सोलह भोद हैं मोहनीयकर्म के दो भेद हैं। दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। इनमें दर्शनमोहनीय के तीन भेद हैं तथा चारित्रमोहनीय के दो भेद हैं। कषायवेदनीय और अकाषावेदनीय। कषायवेदनीय के सोलह भेद और अकाषायवेदनीय के नौ भेद होते हैं। इस प्रकार मोहनीयकर्म के सम्पूर्ण 3+16+9=28 भेद होते हैं।

दर्शन मोहनीय- जिस कर्म के उदय से आत्मा के सम्यक्त्वगुण का घात होता है उसे दर्शनमोहनीय कहते हैं। इसके तीन भेद हैं। मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व।

मिथ्यात्व प्रकृति- जिस कर्म के उदय से तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान नहीं होता उसे मिथ्यात्वप्रकृति कहते हैं। **सम्यक्त्व प्रकृति**- जिस कर्म के उदय से सम्यक्त्व में दोष उत्पन्न होता है उसे सम्यक्त्व प्रकृति कहते हैं। **सम्यक् मिथ्यात्व**- जिस कर्म के उदय से दही और गुड़ के मिले हुए स्वाद से समान उभय (सम्यक्त्व और मिथ्यात्व) रूप श्रद्धान होता है उसे सम्यक्मिथ्यात्व कहते हैं।

चरित्र मोहनीय- जिस कर्म के उदय से आत्मा के चारित्र गुण का घात होता है उसे चारित्रमोहनीय कहते हैं। चारित्रमोहनीय के दो भेद हैं, कषायवेदनीय और अकाषावेदनीय। **कषायवेदनीय**- जो आत्मा के गुण, शुभभाव, शुद्धभाव, धर्मक्षेत्र

या धर्म को कसता (नष्ट करता) है उसे कषायवेदनीय कहते हैं। कषायवेदनीय के चार भेद हैं।

अनन्तानुबन्धी-अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, और सज्वलन। इनमें भी प्रत्येक के क्रोध, मान, माया लोभ, ये चार-चार भेद हैं। इस प्रकार कषायवेदनीय के सोलह भेद होते हैं।

अनन्तानुबंधी- जिस कषाय के उदय से आत्मा के सम्यक्त्व या सम्यकत्वाचारित्र का घात होता है। **अप्रत्याख्यानावरण**- जिसके उदय से देशचारित्र नहीं हो पाता। **प्रत्याख्यानवरण**- जिसके उदय से सकल चारित्र नहीं हो पाता। सज्वलन जिसके उदय से यथाख्यातचारित्र नहीं हो पाता।

अकषाय वेदनीय- जिसके उदय से क्रोधादिक की तरह आत्मा के गुणों का घात नहीं होता उसे अथवा जो कषाय के साथ-साथ अपना कार्य या फल दिखाता है उसे अकषायवेदनीय कहते हैं। इसके नौ भेद हैं। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद।

हास्य- जिस कर्म के उदय से अपने को हंसी आती है। **रति**- जिस कर्म के उदय से इन्द्रियों के विषयों में राग होता है। **अरति**- जिस कर्म के उदय से इन्द्रियों के विषयों में अरति या द्वेष होता हैं। **शोक**-जिस कर्म के उदय से शोक या चिन्ता होती है। **भय**-जिस कर्म के उदय से भय (डर) या उद्वेग होता है। **जुगुप्सा**-जिस कर्म के उदय से दूसरे से ग्लानि या घृणा होती है।

स्त्रीवेद- जिस कर्म के उदय से पुरुष से रमने की इच्छा होती है। **पुंवेद**- जिस कर्म से उदय से स्त्री से रमने की इच्छा होती है। **नपुंसकवेद**- जिस कर्म के उदय से स्त्री-पुरुष दोनों से रमने की इच्छा होती है। नोट-इन कषायों में आगे-आगे मन्दता है। नीचे-नीचे तीव्रता है।

आयु कर्म के भेद

नारक-तैर्यग्योन-मानुष-देवानि।।10।।

अर्थ- नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु ये चार आयु कर्म के भेद हैं।

आयु कर्म - दस प्राणों में आयु प्राण मुख्य है। जिसके सद्भाव में जीवन और अभाव में मरण हो वह आयु है। अर्थात् जो नरक आदि भवों में रोके रखें वह आयु है।

नरकायु - जिसके निमित्त से तीव्र-तीव्र उष्ण वेदनाकारक नरकों में दीर्घ काल तक प्राणी जीवित रहता है। वह नरकायु है।

तिर्यंचायु- जिसका उदय होने पर क्षुधा, पिपासा, शीत उष्ण, दंशमशक आदि अनेक दुःखों के स्थान भूत तिर्यंच पर्याय में वह प्राणी जीवित रहता है वह तिर्यचायु है।

मनुष्यायु- जिसके उदय से शारीरिक, मानसिक, अत्याधिक, सुख-दुःख से समाकुल मनुष्य पर्याय में जन्म हो वह मनुष्यायु है।

देवायु-जिस कर्म के उदय में प्रायःकर शारीरिक, मानसिक सुखों से युक्त देव पर्याय में जन्म होता है।

नाम कर्म के भेद

गति-जाति-शरीरां-गोपांङ्ग-निर्माणबन्धन संघात-संस्थान-संहनन-स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णानुपूर्व्यागुरु-लघूप-घात-परघाता-तपोद्यो-तोच्छ्वास-विहायोगतयः प्रत्येक-शरीर-त्रस-सुभग-सुस्वर-शुभ-सूक्ष्म-पर्याप्ति-स्थिरादेय-यशः कीर्ति-सेतराणि तीर्थकरत्वं च।।11।।

अर्थ- गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, अनुपूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगति ये इक्कीस तथा प्रत्येक शरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्ति, स्थिर, आदेय, यशः कीर्ति ये दश तथा इनके उलटे साधारण, स्थावर, दुर्भग, दुःस्वर, अशुभ, स्थूल अपर्याप्ति, अस्थिर, अनादेय, अशयः कीर्ति ये दश और तीर्थंरत्व इस प्रकार सब मिलाकर नामकर्म के 42 भेद हैं।

गति- जिस कर्म के उदय से प्राणी दूसरे भव या पर्याय को जाता है उसे गति नामकर्म कहते हैं इसके चार भेद है। नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति। जिस कर्म के उदय से प्राणी को नरकपर्याय प्राप्त होती है उसे नरकगति नामकर्म कहते है। इसी प्रकार अन्य भेदों के लक्षण जानना।

जाति- जिस कर्म के उदय से अनेक प्राणियों में अविरोधी समान अवस्था प्राप्त होती हैं उसे जातिकर्म कहते हैं। एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियाजाति और पञ्चेतुन्द्रियजाति। जिस कर्म के उदय से जीव एकन्द्रियजाति में पैदा होता हैं उसे एकेन्द्रिय नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार सब भेदों के लक्षण जानना चाहिए।

शरीर-जिस कर्म के उदय से प्राणी के शरीर की रचना होती है उसे शरीर नामकर्म कहते हैं। इसके पांच भेद हैं। औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण। **औदारिकशरीरनामकर्म**-जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर की रचना होती है उसे औदारिकशरीर नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार सब भेदों के लक्षण जानना चाहिए।

अंगोपांग-जिस कर्म के उदय से अंगों और उपांगों की रचना होती है। उसे अंगोपांग नामकर्म कहते हैं। इसके तीन भेद हैं, औदारिकशरीरांगोपांग, वैक्रियिकशरीररांगोपांग और आहारकशरीरांगोपांग। जिस कर्म के उदय से औदारिकशरीर के अंगों और उपांगों की रचना होती है उसे औदारिकशरीरांगोपांग कहते हैं। इसी प्रकार शेष दो भेदों के लक्षण जानना।

निर्माण-जिस कर्म के उदय से अंगोपांगों की यथास्थान और यथाप्रमाण रचना होती है उसे निर्माण नामकर्म कहते हैं।

बन्धन नामकर्म- शरीर नामकर्म के उदय से ग्रहण किए हुए पुद्गलस्कन्धों का परस्पर मिलन जिस कर्म के उदय से होता हैं। उसे बन्धन नामकर्म कहते हैं। बन्धन के पांच भेद हैं।

औदारिकबन्धन, वैक्रियिकबन्धन, आहारकबन्धन, तैजसबन्धन और कार्मणबन्धन। जिसके उदय से औदारिक शरीर के परमाणु दीवाल में लगी ईटों और गारे की तरह छिद्रसहित परस्पर सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं वह औदारिकबन्धन नामकर्म हैं। इसी प्रकार अन्य भेदों का लक्षण जानना चाहिए।

संघातनामकर्म- जिस कर्म के उदय से औदारिकादि शरीरों के प्रदेशों में परस्पर छिद्ररहित एक्मेकपन होता है उसे संघात नामकर्म कहते हैं। इसके भी पांच भेद हैं। औदारिकसंघात आदि।

संस्थान नामकर्म- जिस कर्म के उदय से शरीर की आकृति बनती है उसे संस्थान नामकर्म कहते हैं। इसके 6 भेद हैं। समचतुरस्रसंस्थान, न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान, स्वातिसंस्थान, कुब्जकसंस्थान, वामनसंस्थान और हुण्डकसंस्थान।

जिस कर्म के उदय से शरीर का आकार ऊपर नीचे तथा बीच में समान विभाग से सांचे में ढला जैसा होता हैं, उसे समचुरस्रसंस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से शरीर का आकार वटवृक्ष की तरह नाभि के नीचे पतला और ऊपर मोटा होता है उसे न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से शरीर का आकार सर्प की बामी की तरह ऊपर पतला और नीचे मोटा होता है उसे स्वातिसंस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से शरीर के बीच के भाग में बहुत से पुद्गलों का समूह इकट्ठा होता है अर्थात् पीठ कुछ उठी रहती हैं उसे कुब्जकसंस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से शरीर बौना होता है उसे वामनसंस्थान कहते हैं। और जिस कर्म के उदय से शरीर के अंगोपांग किसी खास आकार के नहीं होते, बेडौल होते हैं उसे हुण्डकसंस्थान नामकर्म कहते हैं।

संहनन नामकर्म- जिस कर्म के उदय से हड्डियों के बन्धनों में विशेषता

होती हैं उसे संहनन नामकर्म कहते हैं। इसके 6 भेद हैं वज्रवृषभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन, नाराचसंहनन, अर्धनाराचसंहनन, कीलितसंहनन और असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन। जिस कर्म के उदय से वृषभ (वेष्ठन) नाराच (कील), और संहनन (हड्डियाँ) वज्र के हो उसे वज्र वृषभ नाराचसंहनन कहते हैं। जिस कर्म के उदय से कीलें वा हाड़ तो वज्र के समान होते हैं किन्तु वेष्ठन वज्र के समान नहीं होते उसे वज्र नाराच संहननकर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से सामान्य वेष्ठन और कीली सहित हाड़ होते हैं उसे नाराचसंहनन कहते हैं। जिस कर्म के उदय से हड्डियों की सन्धियाँ अर्धकीलित होती हैं उसे अर्धनाराचसंहनन कहते हैं। जिस कर्म के उदय से हड्डियाँ परस्पर कीलित होती हैं उसे कीलितसंहनन कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जुदी-जुदी हड्डियाँ नसों से बंधी होती हैं और परस्पर में कीलित नहीं होती उसे असंप्राप्तासृपाटिका संहनन नामकर्म कहते है।

स्पर्श नामर्कम- जिस कर्म के उदय से शरीर में स्पर्श होता है उसे स्पर्शनामकर्म कहते है। इसके आठ भेद है। कोमल, कठोर, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष। **रस**-जिस कर्म के उदय से शरीर में रस होता है उसे रसना नामकर्म कहते हैं। इसके 5 भेद हैं। तिक्त (चरपरा), कटुक (कड़वा), कषाय (कषायला), आम्ल (खट्टा) और मधुर (मीठा)। **गन्ध**-जिस कर्म के उदय से शरीर में गन्ध प्रकट होती हैं उसे गन्धनामकर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं। सगुन्ध, दुर्गन्ध। **वर्ण**- जिस कर्म के उदय से शरीर में वर्ण (रूप) होता है उसे वर्णनामकर्म कहते हैं। इसके पांच भेद हैं नील, शुक्ल, कृष्ण, रक्त और पीत।

आनुपूर्व्य- जिस कर्म के उदय से विग्रहगति में मरण से पहले के शरीर के आकार आत्मा के प्रदेश रहते हैं उसे आनुपूर्व्य नामकर्म कहते हैं। इसके चार भेद हैं। नरकगत्यानुपूर्व्य, तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, मनुष्यगत्यानुपूर्व्य और देवगत्यानुपूर्व्य। जिस समय मनुष्य या तिर्यंच मरकर नरकगति की ओर जाता है उस समय उसके आत्मा के प्रदेशों का आकार वैसा ही बना रहता हैं जैसा उसके पूर्व शरीर का आकार था जिसे वह छोड़कर आया है उस आकार को नरकगत्यानुपूर्व्य कहते हैं। इसी प्रकार अन्य भेदों के लक्षण जानना चाहिए।

अगुरुलघुनामकर्म- जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर लोहे के गोले की तरह होने से न तो नीचे गिरता है और न आक की रूई की तरह हल्का होने से ऊपर जाता है उसे अगुरुलघुनामकर्म कहते हैं। **उपघात नामकर्म** - जिस कर्म के उदय से अपने ही घातक आंगोपांग होते हैं, उसे उपघातनामकर्म कहते हैं। **परघात**- जिस कर्म के उदय से दूसरे के घातक अंगोपांग होते है उसे परघातनामकर्म

कहते हैं। **आतप**-जिस कर्म के उदय से आतपकारी शरीर होता है उसे आतपनामकर्म कहते हैं। **उद्योत**-जिस कर्म के उदय से उद्योतरूप शरीर होता है उसे उद्योत नामकर्म कहते हैं। **उच्छ्वास**-जिस कर्म के उदय से शरीर में उच्छ्वास होता है उसे उच्छ्वासनामकर्म कहते हैं।

विहायोगति- जिस कर्म के उदय से आकाश में गमन होता है उसे विहायोगतिनामकर्म कहते है। इसके दो भेद हैं। प्रशस्तविहायोगति और अप्रशस्तविहायोगति। **प्रत्येक शरीर**- जिस कर्म के उदय से एक शरीर का एक ही जीव स्वामी होता है। **साधारण नामकर्म**- जिस कर्म के उदय से एक शरीर के अनेक जीव स्वामी होते हैं उसे साधारण शरीर नामकर्म करते हैं। **त्रस**-जिस कर्म के उदय से द्वीन्द्रिय आदि जीवों में जन्म होता है उसे त्रसनामकर्म कहते हैं।

स्थावर- जिस कर्म के उदय से एकेन्द्रिय जीवों में जन्म होता है उसे स्थावर नामकर्म कहते हैं।

सुभग-जिस कर्म के उदय से दूसरे जीवों को अपने से प्रीति होती है उसे सुभगनामकर्म कहते हैं। **दुर्भग**- जिस कर्म के उदय से रूपादिगुणों से युक्त होने पर भी दूसरे जीवों को अपने से प्रीति नहीं होती उसे दुर्भगनामकर्म कहते हैं।

सुस्वर- जिस कर्म के उदय से सुरीला स्वर होता है। उसे सुस्वरनामकर्म कहते हैं। दुःस्वर-जिस कर्म के उदय से खराब स्वर होता है उसे दुःस्वरनामकर्म कहते हैं। शुभ-जिस कर्म के उदय से मस्तक आदि अवयव सुंदर मालूम होते हैं उसे शुभनामकर्म कहते हैं। अशुभ-जिस कर्म के उदय से शरीर के अवयव देखने में मनोहर नहीं मालूम होते उसे अशुभनामकर्म कहते हैं।

सूक्ष्म- जिस कर्म के उदय से दूसरों को नहीं रोकने वाला और दूसरों से नहीं रूकने वाला शरीर प्राप्त होता है उसे सूक्ष्म शरीरनामकर्म कहते हैं। **बादर**-(स्थूल) जिस कर्म के उदय से दूसरे को रोकने वाला दूसरे से रूकने वाला स्थूल शरीर प्राप्त होता है उसे बादरशरीरनामकर्म कहते हैं।

पर्याप्ति- जिस कर्म के उदय से अपने योग्य पर्याप्तियां पूर्ण होती है उसे पर्याप्तिनामकर्म कहते हैं **अपर्याप्ति**- जिस कर्म के उदय से जीव के एक भी पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती उसे अपर्याप्ति नामकर्म कहते हैं।

स्थिर- जिस कर्म के उदय से शरीर की धातुएँ (रस, रूधिर, मांस, मेदा, हाड़, मज्जा और शुक्र) तथा उपधातुएँ (वात, पित, कफ, शिरा, स्नायु, चर्म और जठराग्नि) अपने-अपने स्थान में स्थिरता को प्राप्त होती हैं उसे स्थिरनामकर्म कहते हैं।

अस्थिर- जिस कर्म के उदय से शरीर की धातुएँ तथा उपधातुएँ अपने-अपने स्थान में स्थिर नहीं रहती उसे अस्थिरनामकर्म कहते हैं।

आदेय- जिस कर्म के उदय से शरीर में प्रभा होती है उसे आदेयनामकर्म कहते हैं। **अनादेय**- जिस कर्म के उदय से शरीर में प्रभा नहीं होती उसे अनादेयनामकर्म कहते हैं।

यश:कीर्ति- जिस कर्म के उदय से संसार में जीव की प्रशंसा होती है उसे यश:कीर्तिनामकर्म कहते हैं। **अयश:कीर्ति**-जिस कर्म के उदय से जीव की निंदा होती है उसे अयश:कीर्ति नामकर्म कहते हैं।

तीर्थंकरत्व- जिस कर्म के उदय से तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है उसे तीर्थंकर नामकर्म कहते हैं।

गोत्रकर्म के भेद

उच्चैर्नीचैश्च॥12॥

अर्थ-गोत्रकर्म के दो भेद है। उच्चगोत्र और नीचगोत्र।

उच्चगोत्र- जिस कर्म के उदय से प्राणी का लोकमान्य उच्च कुल में जन्म होता है। उसे उच्चगोत्र कर्म कहते हैं **नीचगोत्र**-जिस कर्म के उदय से प्राणी का लोकनिन्द्य नीचकुल में जन्म होता है उसे नीचगोत्रकर्म कहते हैं।

अन्तरायकर्म के भेद

दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणाम्॥13॥

अर्थ- अन्तरायकर्म के 5 भेद हैं। दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय। जिस कर्म के उदय से दान की इच्छा रखता हुआ प्राणी दान नहीं कर सकता है उसे दानान्तरायकर्म कहते हैं। इसी प्रकार अन्य भेदों के भी लक्षण समझना चाहिए।

स्थितिबन्ध का वर्णन

आदित-स्तिसृणा-मन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपम कोटीकोट्य: परा स्थिति:॥14॥

अर्थ-आदि के तीन-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर है। इस उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीव के ही होता है।

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति

सप्तति-र्मोहनीयस्य॥15॥

अर्थ- मोहनीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर है।

नाम और गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति

विंशति-र्नाम-गोत्रयोः।।16।।

अर्थ-नामकर्म और गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागर हैं।

आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति

त्रयस्त्रिंशत्सागरो-पमाण्यायुषः।।17।।

अर्थ-आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागर है।

वेदनीयकर्म की जघन्य स्थिति

अपरा द्वादश मुहूर्ता वेदनीयस्य।।18।।

अर्थ-वेदनीयकर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त हैं।

नाम और गोत्रकर्म की जघन्य स्थिति

नाम-गोत्रयो-रष्टौ।।19।।

अर्थ-नाम या गोत्रकर्म की जघन्य स्थिति 8 मुहूर्त हैं।

शेष पांच कर्मों की जघन्य स्थिति

शेषाणा-मन्तर्मुहूर्ताः।।20।।

अर्थ- शेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय और आयुकर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

अनुभाग बन्ध का लक्षण

विपाकोऽनुभवः।।21।।

अर्थ-विशेष नानाप्रकार के पाक (उदय) को विपाक कहते हैं। और इस विपाक को ही अनुभव (अनुभाग) बन्ध कहते हैं।

अनुभाग बन्ध कर्म के नामानुसार होता है

स यथानाम्।।22।।

अर्थ- वह अनुभागबन्ध कर्मों के नामानुसार ही होता है।

विशेषार्थ- जिस कर्म का जैसा नाम है उसमें वैसा ही अनुभाग बन्ध पड़ता है। जैसे-ज्ञानावरण कर्म में ज्ञान को रोकना, अंतराय कर्म में विधान करना इत्यादि।

फल देने के बाद निर्जरा

ततश्च निर्जरा।।23।।

अर्थ-तीव्र, मन्द या मध्यम फलदे चुकने के बाद कर्मों की निर्जरा हो जाती है अर्थात् कर्म उदय में आकर आत्मा से पृथक् हो जाता हैं।

विशेषार्थ- निर्जरा के दो भेद हैं। सविपाकनिर्जरा और अविपाकनिर्जरा। **सविपाकनिर्जरा**-फल देकर स्थिति पूर्ण होने पर आत्मा से कर्म के पृथक् होने को सविपाकनिर्जरा कहते हैं।

अविपाकनिर्जरा-उदय काल प्राप्त न होने पर भी तप आदि उपायों से कर्मों से खिपा देने को अविपाक निर्जरा कहते हैं।

प्रदेशबन्ध का लक्षण

नाम-प्रत्ययाः सर्वतो योग-विशेषात्-सूक्ष्मैक-क्षेत्रवगाह-स्थिताः सर्वात्म-प्रदेशेष्वनन्ता-नन्त-प्रदेशाः।।24।।

अर्थ-(नामप्रत्ययाः) ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियों के कारण (सर्वतः) सब ओर से अथवा देवनारकादि भवों में (योगविशेषात्) योग विशेष (सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः) सूक्ष्म तथा एकक्षेत्रावगाहरूप से स्थित (सर्वात्मप्रदेशेषु) आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों में (अनन्तानन्तप्रदेशाः) जो कर्मरूप पुद्गल के अनन्तानन्त प्रदेश हैं उनको प्रदेशबन्ध कहते हैं।

पुण्य प्रकृतियां

सद्वेद्य-शुभायु-र्नाम-गोत्राणि पुण्यम्।।25।।

अर्थ- साता-वेदनीय, शुभ आयु, शुभनाम और शुभगोत्र ये पुण्य प्रकृतियाँ हैं।

विशेषार्थ- शुभ आयु तीन होती है- तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु।

शुभ नाम कर्म की 63 प्रकृतियाँ होती हैं- मनुष्य गति, मनुष्य गत्यानुपूर्वी, देवगति, देव गत्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, पांच शरीर, तीन अंगोपाङ्ग निर्माण, 5 बंधन, 5 संघात, समचतुरस संस्थान, वज्रवृषभ नाराच संहनन, 5 प्रशस्त वर्ण, 5 प्रशस्त रस, 2 प्रशस्त गंध, और 8 प्रशस्त स्पर्श, अगुरुलघु, परघात, उच्छवास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशकीर्ति और तीर्थंकर शुभ गोत्र-उच्च गोत्र है।

कुल- पुण्य प्रकृतियाँ 68 हैं - 1 सातावेदनीय, 3 आयु, 1 उच्च गोत्र, नामकर्म की (63 1+3+1+63 = 68 पुण्य प्रकृतियाँ है।)

पाप प्रकृतियाँ

अतोऽन्यत्पापम्।।26।।

अर्थ-इनसे भिन्न अर्थात् घातियाकर्म, असातावेदनीय, अशुभ आयु, अशुभनाम और अशुभगोत्र ये पापप्रकृतियाँ हैं।

विशेषार्थ- घातिया कर्म की 47 प्रकृतियाँ पाप रूप ही हैं- ज्ञानावरण 5 + दर्शनावरण 9 + मोहनी 28 + अंतराय 5 = 47 घातिकर्म प्रकृति। 1 असाता वेदनीय+1 नरकायु + 1 नीच गोत्र + नाम कर्म की 50 = 53 अघातियाकर्म प्रकृति।

नाम कर्म की 50 प्रकृतियाँ - नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगति, तिर्यंच, गत्यानुपूर्वी चार जाति पाँच संस्थान पाँच संहनन, 5 अप्रशस्त वर्ण, 5 अप्रशस्त रस, 2 अप्रशस्त गंध, 8 अप्रशस्त स्पर्श, उपधात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावंर, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्ति, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय और अयशःकीर्ति ये नामकर्म की 50 प्रकृतियाँ हैं। इस प्रकार 47 घातिया कर्म प्रकृति तथा 53 अघातिया कर्म प्रकृतियाँ में सब मिलकर 100 पाप प्रकृतियाँ होती है।

इति तत्त्वार्थसूत्रे मोक्षशास्त्रे अष्टमोऽध्यायः समाप्तः

संवर और निर्जरा तत्त्व का वर्णन

नवम अध्याय

संवर का लक्षण

आस्रवनिरोधः संवरः।।1।।

अर्थ- (आस्रवः) आस्रव का (निरोधः) रूकना (संवरः) संवर है। अर्थात् आत्मा में जिन कारणों से कर्मों का आना बन्द हो जाता है उसे संवर कहते हैं।

संवर के दो भेद हैं। **द्रव्यसंवर** (पुद्गलमय कर्मों के आस्रव का रूकना) और **भावसंवर** (कर्मास्रव के कारण भूत भावों का रूकना)।

संवर के कारण

सगुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परीषहजय-चारित्रैः।।2।।

अर्थ- (स) वह संवर (गुप्ति) तीन गुप्ति (समिति), पांच समिति (धर्म), दस धर्म (अनुप्रेक्षा), बारह अनुप्रेक्षा (परीषह जय), बाईस परीषहजय और (चारित्रैः) पांच चारित्र से होता है।

गुप्ति- जिसके बल से संसार के कारणों से आत्मा का गोपन अर्थात् रक्षा होती है। वह गुप्ति है।

समिति-जीवों की हिंसा से बचने के लिए प्रवृत्ति में यत्नाचार को समिति कहते हैं।

धर्म-जो आत्मा को संसार के दुःखों से छुड़ाकर अभीष्ट स्थान को प्राप्त कराता है उसे धर्म कहते हैं।

अनुप्रेक्षा- शरीरादि के स्वरूप का बार-बार विचार करने को अनुप्रेक्षा कहते है। **परीषहजय-** भूख आदि की वेदना उत्पन्न होने पर कर्मों की निर्जरा के लिए उसे शान्त भावों से सहन करने को परिषहजय कहते हैं। **चारित्र-** कर्मों के

आस्रव में कारण भूत बाह्य और अभ्यान्तर क्रियाओं के रोकने को चारित्र कहते हैं।

निर्जरा और संवर का कारण

तपसा निर्जरा च।।3।।

अर्थ- (तपसा) तप से (निर्जरा) निर्जरा भी होती है। (च) और संवर भी होता है।

विशेषार्थ- यद्यपि दस धर्मों मे तप आ जाता है। फिर भी तप का अलग से ग्रहण यह बतलाने के लिए किया है कि तप से नवीन कर्मों का आना रूकता है और पहले बँधे हुए कर्मों की निर्जरा भी होती है तथा तप संवर का प्रधान कारण है तथा तप से निर्जरा भी होती है।

गुप्ति का लक्षण व भेद

सम्यग्योग-निग्रहो गुप्तिः।।4।।

अर्थ- (सम्यग्योग) भले प्रकार से अर्थात् विषयाभिलाषा छोड़कर मन वचन काय की स्वच्छन्द प्रवृति का रोकना (गुप्तिः) गुप्ति है। गुप्ति के तीन भेद है। मनोगुप्ति-मन पर नियन्त्रण, वचनगुप्ति-वचन पर नियन्त्रण, और कायगुप्ति-शरीर पर नियन्त्रण।

समिति के भेद

ईर्या-भाषैषणादान-निक्षेपोत्सर्गाः समितयः।।5।।

अर्थ-ईर्या, भाषा, एषणा आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापना ये पांच समितियां हैं।

संवर तत्व के 57 भेद

संवर

गुप्ति	समिति	धर्म	अनुप्रेक्षा	परिषहजय		चारित्र
+	+	+	+			
3	5	10	12		22	5=57
मनोगुप्ति	ईर्या	उत्तम क्षमा	अनित्य	क्षुधा	आक्रोश	सामायिक
वाग्गुप्ति	भाषा	उत्तम मार्दव	अशरण	तृषा	वध	छेदोपस्थापना
कायगुप्ति	एषणा	उत्तम आर्जव	संसार	शीत	याचना	परिहारविशुद्धि
	आदाननिक्षेपण	उत्तम सत्य	एकत्व	उष्ण	अलाभ	सूक्ष्मसांपराय
	उत्सर्ग	उत्तम शौच	अन्यत्व	दंशमशक	रोग	यथाख्यात
		उत्तम संयम	अशुचित्व	नाग्न्य	तृणस्पर्श	
		उत्तम तप	आस्रव	अरति	मल	
		उत्तम त्याग	संवर	स्त्री	सत्कार पुरस्कार	
		उत्तम आकिञ्चन्य	निर्जरा	चर्या	प्रज्ञा	
		उत्तम ब्रह्मचर्य	लोक	निषद्या	अज्ञान	
			बोधदुर्लभ	शय्या	अदर्शन	

विशेषार्थ-ईर्यासमिति-गमन करते समय आगे की चार हाथ जमीन देखने का लक्ष्य रखना। **भाषासमिति**-बोलते समय हित, मित और प्रिय वचन का ध्यान रखना। **एषणासमिति**-भोजन के विषय में शुद्धि और निर्दोषता का ध्यान रखना।

आदान निक्षेपणसमिति-पीछी और कमण्डलु आदि को रखते उठाते समय जीवरक्षा का ध्यान रखना। **प्रतिष्ठापन समिति**-मलमूत्र छोड़ते समय जीवरक्षा का लक्ष्य रखना।

धर्म के भेद

उत्तम-क्षमा-मार्दवार्जव-सत्य-शौच-संयम-तपस्त्यागाकिञ्चन्य-ब्रह्मचर्याणि-धर्माः।।6।।

अर्थ-**उत्तमक्षमा**-क्रोध का कारण उपस्थित होने पर भी क्रोध नहीं करना। **उत्तममार्दव**-उत्तम कुल, विद्या, बल आदि का गर्व नहीं करना। **उत्तम आर्जव**-मायाचार का त्याग। **उत्तमशौच**-लोभ का त्याग कर आत्मा को पवित्र बनाना। **उत्तम सत्य**-रागद्वेषपूर्वक असत्यवचन बोलने का त्याग।

उत्तमसंयम-इन्द्रियों और मन को वश में करना तथा छह काय के जीवों की रक्षा करना। **उत्तमतप**-बाह्य और आभ्यन्तर तप करना। **उत्तमत्याग**-कीर्ति तथा प्रत्युपकार की वाञ्छा के बिना चार प्रकार का दान देना। **उत्तमआकिञ्चन्य**-पर पदार्थों में ममत्वरूप परिणामों का त्याग और **उत्तमब्रह्मचर्य**-स्त्रीमात्र का त्याग कर आत्मा के शुद्ध स्वरूप में लीन होना। ये दश धर्म हैं।

अनुप्रेक्षाओं के बारह भेद-

अनित्याशरण-संसारैकत्वान्यतवाशुच्यास्रव-संवर निर्जरा-लोक-बोधि-दुर्लभ-धर्मस्वाख्या-तत्त्वानु- चिन्तन-मनुप्रेक्षाः।।7।।

अर्थ-अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म ये बारह अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) हैं।

अनित्यानुप्रेक्षा-संसार के समस्त पदार्थ इन्द्रधनुष, बिजली अथवा जल के बुबुले के समान शीघ्र नष्ट होने वाले हैं, ऐसा विचार अनित्यानुप्रेक्षा है।

अशरणानुप्रेक्षा-जिस प्रकार निर्जन वन में भूखे सिंह के द्वारा पकड़े हुए हिरण के बच्चे को कोई शरण नहीं है उसी प्रकार इस संसार में मरते हुए जीव को वैद्य, डाक्टर आदि कोई शरण नहीं है। ऐसा विचार अशरणानुप्रेक्षा है।

संसारानुप्रेक्षा- इस चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण करता हुआ जीव पिता

से पुत्र, पुत्र से पिता, स्वामी से दास, दास से स्वामी हो जाता है। और तो क्या, स्वयं अपना भी पुत्र हो जाता हैं, इत्यादि संसार के दुःखमय स्वरूप का विचार संसारानुप्रेक्षा हैं।

एकत्वानुप्रेक्षा- संसार में जन्म, जरा, मरण, रोग आदि दुःखों को प्रत्येक प्राणी अकेला ही भोगता है। कुटुम्बी आदि जन सहायक नहीं होते। इत्यादि विचार करना एकत्वानुप्रेक्षा है।

अन्यत्वानुप्रेक्षा- शरीरादि से अपने आत्मा को भिन्न चिंतनवन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है।

अशुचित्वानुप्रेक्षा- यह शरीर महान अपवित्र है, खून, मांस आदि से भरा हुआ है, स्नान आदि से कभी पवित्र नहीं हो सकता इससे संबंध रखने वाले दूसरे पदार्थ भी अपवित्र हो जाते हैं। इत्यादि शरीर की अपवित्रता का विचार करना अशुचित्वानुप्रेक्षा है।

आस्रवानुप्रेक्षा- मिथ्यात्व आदि भावों से कर्मों का आस्रव होता है, आस्रव ही संसार का मूल कारण है इस प्रकार विचार करना आस्रवानुप्रेक्षा हैं।

संवरानुप्रेक्षा- आत्मा में नवीन कर्मों का एक क्षेत्रावगाह रूप से रूक जाना संवर हैं। संवर से ही जीवों का कल्याण होता है ऐसा विचार संवरानुप्रेक्षा है।

निर्जरानुप्रेक्षा- सविपाकनिर्जरा से आत्मा का कुछ भला नहीं होता किन्तु अविपाकनिर्जरा से आत्मा का कल्याण होता है। इत्यादि निर्जरा के स्वरूप का चिन्तवन निर्जरानुप्रेक्षा है।

लोकानुप्रेक्षा-अनन्त अलोकाकाश के ठीक बीच में रहने वाले चौदह राजुप्रमाण लोक आकाशादि का चिन्तवन लोकानुप्रेक्षा है।

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा- रत्नत्रयस्वरूप बोधि की प्राप्ति होना कठिन है, इस प्रकार विचार करना बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है।

धर्मानुप्रेक्षा- जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहा हुआ अहिंसा लक्षण वाला धर्म ही जीवों का कल्याण करने वाला है। इसके प्राप्त न होने से ही जीव चतुर्गति के दुख सहते हैं, आदि विचार करना धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा है।

परिषह सहन करने का उपदेश

मार्गाच्यवन-निर्जरार्थं परिषोढ़व्याः परिषहाः।।8।।

अर्थ- संवर के मार्ग से च्युत न होने के लिए तथा कर्मों की निर्जरा के लिए परीषहों को सहना चाहिए।

परिषहों के भेद

क्षुत्पिपासा-शीतोष्ण-दंश-मशक-नाग्न्यारति-स्त्री-चर्या-निषद्या-शय्याक्रोश-वध-याचनाऽलाभरोगतृणस्पर्श मल-सत्कार-पुरस्कार-प्रज्ञाज्ञानाऽदर्शनानि।।19।।

अर्थ-क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन। ये बाईस परिषह हैं।

क्षुधा-क्षुधा (भूख) के दुःख को शान्त भाव से सह लेना क्षुधा परिषहजय है।।।1।। **तृषा**-प्यास के दुःख को शान्तभाव से सह लेना तृषापरिषहजय है।।2।। **शीत**-शीत की वेदना को शान्तभाव से सहना शीतपरिषहजय है।।3।। **उष्ण**-गर्मी की वेदना को शान्तभाव से सहना उष्णपरिषहजय है।।4।।

दंशमशक-डांस, मच्छर, चिन्टी आदि के काटने से उत्पन्न वेदना को शान्तभाव से सहना दंशमशक परिषहजय है।।5।।

नाग्न्य- नग्न रहते हुए भी मन में किसी प्रकार का विकार नहीं होना नाग्न्यपरिषहजय हे।।6।। **अरति**- अरति के कारण उपस्थित होने पर भी संयम में अरति (अप्रीति) नहीं होना अरति परिषहजय है।।7।। **स्त्री**- स्त्रियों के हावभाव प्रदर्शन आदि उपद्रवों को शांतभाव से सहना, उन्हें देखकर मोहित नहीं होना स्त्री परिषहजय है।।8।।

चर्या- गमन करते समय खेदखिन्न नहीं होना, निर्भय रहना चर्या परिषहजय है।।9।। **निषद्या**- ध्यान के लिए नियमित काल पर्यन्त स्वीकृत आसन से विचलित नहीं होना निषद्या परिषहजय है।।10।।

शय्या- विषम, कठोर, कंकरीले आदि स्थानों में एक करवट से निंद्रा लेना और अनेक उपसर्ग आ जाने पर भी शरीर को चलायमान नहीं करना शय्या परिषहजय है।।11।। **आक्रोश**-दुष्ट जीवों के द्वारा कहे हुए कठोर शब्दों को सुनकर भी शान्त रहना आक्रोश परिषहजय है।।12।। **वध**- तलवार आदि के द्वारा शरीर पर प्रहार करने वालों से द्वेष नहीं करना वध परिषहजय है।।13।। **याचना**- प्राणों का वियोग होने पर भी आहारादिक नहीं मांगना याचना परिषहजय है।।14।। **अलाभ**- भिक्षा के प्राप्त नहीं होने पर भी सन्तोष धारण करना अलाभपरिषहजय है।।15।। **रोग**- अनेक रोग होने पर भी उसकी वेदना को शान्तभाव से सह लेना रोगपरिषहजय है।।16।।

तृणस्पर्श- चलते समय पगों में तृण, कण्टक वगैरह के चुभ जाने से उत्पन्न हुए दुःख को सहना तृणस्पर्श परिषहजय है।।17।। **मल**-स्नान न करना तथा अपने

मलिन शरीर को देखकर ग्लानि नहीं करना मल परिषहजय है।।18।।

सत्कारपुरस्कार- अपने में गुणों की अधिकता होने पर भी यदि कोई सत्कार पुरस्कार नहीं करे तो चित्त में कलुषता नहीं होना सत्कार-पुरस्कार परिषहजय है।।19।। **प्रज्ञा**-ज्ञान की अधिकता होने पर मान नहीं करना प्रज्ञा परिषहजय है।।20।।

अज्ञान- ज्ञानादिक की हीनता होने पर औरों के द्वारा किए गए तिरस्कार को शान्तभाव से सह लेना अज्ञान परिषहजय है।।21।। **अदर्शन-** बहुत समय तक कठोर तपश्चर्या करने पर भी विशेषज्ञान या ऋद्धियों की प्राप्ति नहीं होने पर भी अश्रद्धान का भाव नहीं होना अदर्शन परिषहजय है।।22।।

नोट-इन बाईस परिषहों को संक्लेशरहित भावों से सह लेने से संवर होता है और परिषह स्वेच्छा से सहन किये जाते है तथा उपसर्ग परकृत हाने से जबरन सहन करने पड़ते हैं।

10, 11, 12 वें गुणस्थान में परिषह

सूक्ष्म साम्पराय छद्मस्थ वीतरागयोश्चतुर्दश।।10।।

अर्थ- सूक्ष्मसाम्पराय, छद्मस्थवीतराग (उपशान्तमोह) तथा क्षीणमोह नामक गुणस्थान में 14 परिषह होते हैं। उनके नाम इस प्रकार है। क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, प्रज्ञा और अज्ञान।

सयोगकेवली तेरहवें गुणस्थान में परिषह

एकादश जिने।।11।।

अर्थ-सयोगकेवली (तेरहवें गुणस्थान में रहने वाले) जिनेन्द्र भगवान के उक्त 14 परिषहों में से अलाभ, प्रज्ञा और अज्ञान को छोड़कर शेष 11 परिषह होते हैं।

विशेषार्थ- जिनेन्द्र भगवान के वेदनीय कर्म का उदय रहता हैं। इसलिए उसके उदय होने से 11 परिषह उनके कहे गए हैं।

यद्यपि मोहनीय कर्म का उदय न होने से केवली को क्षुधादिक की वेदना नहीं होती। तथापि इन परिषहों का कारण वेदनीय कर्म मौजूद है। इसलिए उपचार से 11 परिषह कहे गए हैं। वास्तव में उनके एक भी परिषह नहीं होता।

छठवें से नवमें गुणस्थान तक परिषह

बादर साम्पराये सर्वे।।12।।

अर्थ- (बादर साम्पराय) बादर साम्पराय में (सर्वे) सभी परिषह होते हैं बादर कषाय जिन मुनि के रहती है। ऐसे छठवें से नवमें गुणस्थान तक सब परिषह

होते हैं। क्योंकि इन गुण स्थानों में परिषहों के कारणभूत सब कर्मों का उदय है।

ज्ञानावरण का उदय होने पर होने वाले परिषह

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने।।13।।

अर्थ- (ज्ञानावरणे) ज्ञानावरण कर्म के सद्भाव में (प्रज्ञाज्ञाने) प्रज्ञा वा अज्ञान परिषह ज्ञानावरण के उदय से होते हैं।

दर्शनमोह और अन्तराय का उदय होने पर होने वाले परिषह

दर्शना-मोहान्तराययो-रदर्शना-लाभौ।।14।।

अर्थ- अदर्शन परिषह दर्शनमोह के उदय से होने पर और अलाभ परिषह अन्तराय कर्म का उदय होने पर होता हैं।

चारित्रमोह के उदय से होने वाले परिषह

चारित्रमोहे नाग्न्यारति-स्त्री-निषद्याक्रोश-याचना-सत्कार-पुस्कारा:।।15।।

अर्थ- नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कारपुस्कार ये सात परिषह चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होने पर होते हैं।

वेदनीय के उदय से होने वाले परिषह

वेदनीये शेषा:।।16।।

अर्थ- क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, मल परिषह **वेदनीय** कर्म के उदय से 11 परिषाह होते हैं।

एक साथ होने वाले परिषह

एकादयो भाज्या युगपदे-कस्मिन्नै-कोनविंशते:।।17।।

अर्थ- (युगपत्) एक साथ (एकस्मिन्) एक जीव में (एकादय:) एक को आदि लेकर (एकोनविंशते:) उन्नीस परिषह तक (भाज्या:) विभक्त करना चाहिए।

विशेषार्थ- एक जीव के एक काल में अधिक से अधिक उन्नीस परिषह हो सकते हैं। क्योंकि शीत और उष्ण इन दो परिषहों में से एक काल में एक ही होगा तथा शय्या, चर्या और निषद्या इन तीन में से भी एक काल में एक ही परिषह होगा। इस प्रकार तीन परिषह कम होते हैं।

चारित्र के भेद

सामायिक-च्छेदो-पस्थापना-परिहार-विशुद्धि-सूक्ष्म-साम्पराय-यथा-ख्यात-मिति चारित्रम्।।18।।

अर्थ- सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात ये चारित्र के पांच भेद हैं।

सामायिकचारित्र- सम्पूर्ण सावद्य योग के त्याग को सामायिक चारित्र कहते हैं। **छेदोपस्थापना**- प्रमादवश चारित्र में लगे दोषों को प्रायश्चित के द्वारा दूरकर निर्दोष चारित्र धारण करना छेदोपस्थापना चारित्र है। **परिहार-विशुद्धि**-जिस चारित्र में जीवहिंसा का त्याग हो जाने से विशेष विशुद्धि प्राप्त होती है।

सूक्ष्मसाम्पराय- अत्यन्त सूक्ष्म लोभकषाय का उदय होने पर जो चारित्र होता है उसे सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र कहते हैं। **यथाख्यात**- सम्पूर्ण मोहनीयकर्म के क्षय अथवा उपशम से आत्मा के शुद्ध स्वरूप में स्थित होने को यथाख्यात चारित्र कहते हैं।

बाह्य तप के भेद

अनश-नावमौदर्य-वृत्ति-परिसंख्यान-रसपरित्याग-विविक्त-शय्यासन-काय-क्लेशा बाह्यं तपः।।19।।

अर्थ- अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह बाह्य तप के भेद हैं। बाह्य तप वस्तुओं की अपेक्षा होते है और इन तपों का पता दूसरों को भी लग जाता हैं इसलिए ये बाह्य तप कहे जाते हैं।

अनशन- संयम की वृद्धि के लिए चार प्रकार के आहार का त्याग करना। **अवमौदर्य**-रागभाव दूर करने के लिए भूख से कम भोजन करना।

वृत्तिपरिसंख्यान- भिक्षा को जाते समय घर, गली आदि का अटपटा नियम।

रसपरित्याग- इन्द्रियों का दमन करने के लिए घृत, दुग्ध आदि रसों का त्याग।

विविक्तशय्यासन- स्वाध्याय या ध्यान आदि की सिद्धि के लिए एकान्त तथा पवित्र स्थान में सोना बैठना और **कायक्लेश** आरामतलबी की भावना दूर करने के लिए आतापनयोग आदि को धारण करना।

आभ्यन्तर तप के भेद

प्रायश्चित्त-विनय-वैय्यावृत्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग-ध्यानान्युत्तरम्।।20।।

अर्थ- प्रायश्चित, विनय, वैय्यावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान से छह आभ्यन्तर तप है। ये तप मन को वश में करने के लिए किए जाते हैं। इसलिए इन्हें आभ्यन्तर तप कहते हैं।

प्रायश्चित- प्रमाद अथवा अज्ञान से लगे हुए दोषों की शुद्धि करना। **विनय**-रत्नत्रय या उसके धारकों का आदर करना। **वैय्यावृत्य**- शरीर या अन्य वस्तुओं से मुनियों की सेवा करना। **स्वाध्याय**- आलस्य त्याग कर ज्ञान की

आराधना करना। **व्युत्सर्ग**-बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना। **ध्यान**-चित्त की चंचलता को रोककर उसे किसी एक पदार्थ के चिन्तवन में लगाना।

अभ्यन्तर तपों के उत्तर भेद

नव-चतुर्दश-पंचद्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात्।।21।।

अर्थ- ध्यान से पहले के पांच तपों के क्रम से 9, 4, 10, 5 और 2 भेद हैं।

प्रायश्चित तप के भेद

आलोचनाप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः।।22।।

अर्थ-आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थान ये नौ प्रायश्चित तप के भेद हैं।

विशेषार्थ-आलोचना-गुरु से अपना प्रमाद निवेदन। **प्रतिक्रमण**-''मिच्छा में दुक्कड़'' ऐसा निवेदन करना। **तदुभय**-आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों करना। **विवेक**-सदोष आहार तथा उपकरणों का नियमित समय तक त्याग करना। **व्युत्सर्ग**-कुछ समय के लिए कायोत्सर्ग करना। **तप**-उपवासादि करना।

छेद-एक दिन, एक पक्ष, एक महीना आदि की दीक्षा का भंग।

परिहार-कुछ समय के लिए संघ से पृथक् कर देना और **उपस्थान**-पुरानी सम्पूर्ण दीक्षा का छेद कर फिर नवीन दीक्षा देना। यह प्रायश्चित संघ के आचार्य देते हैं।

विनयतप के चार भेद

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः।।23।।

अर्थ-ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचार विनय ये चार विनयतप के भेद हैं।

विशेषार्थ- ज्ञानविनय-आलस्य छोड़कर आदरपूर्वक योग्य काल में शास्त्र पढ़ना, अभ्यास करना आदि। **दर्शनविनय**-शंका आदि दोषरहित श्रद्धान। **चारित्रविनय**-चारित्र का निर्दोषरीति से पालन। **उपचारविनय**-आचार्य आदि पूज्य पुरुषों को देखकर खड़े होना, नमस्कार करना आदि।

वैय्यावृत्य तप के दश भेद

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम्।।24।।

अर्थ- आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, मनोज्ञ इन दश प्रकार के मुनियों की सेवा टहल करना आचार्य वैय्यावृत आदि इस प्रकार का वैय्यावृत है। **आचार्य**-जो मुनि पंचाचार का स्वयं आचरण करते हैं और दूसरे से कराते हैं। **उपाध्याय**-जिनके पास मुनिजन शास्त्राभ्यास करते हैं। **तपस्वी**-

महा उपवास आदि का अनुष्ठान करने वाले साधु **शैक्ष्य**-शिक्षा लेने वाले साधु। **ग्लान**-रोगी साधु। **गण**-वृद्ध मुनियों के अनुसार चलने वाले साधु। **कुल**-दीक्षा देने वाले आचार्य के शिष्य। **संघ**-ऋषि, यति, मुनि, अनगार-इन चार प्रकार के मुनियों का समूह। **साधु**-बहुकाल के दीक्षित साधु। **मनोज्ञ**-लोक में ख्याति प्राप्त साधु।

तप के भेद

बाह्य तप.................................अन्तरंग तप

- बाह्य तप ↓
  - अनशन
  - अवमौदर्य
  - वृत्तिपरिसंख्यान
  - रसपरित्याग
  - विविक्तशय्यासन
  - कायक्लेश
- प्रायश्चित ↓
  - आलोचना
  - प्रतिक्रमण
  - तदुभय
  - विवेक
  - व्युत्सर्ग
  - तप
  - छेद
  - परिहार
  - उपस्थापन
- विनय ↓
  - ज्ञानविनय
  - दर्शनविनय
  - चारित्रविनय
  - उपचारविनय
- वैय्यावृत्य ↓
  - आचार्य वैय्यावृत्य
  - उपाध्याय वैय्यावृत्य
  - तपस्विवैय्यावृत्य
  - शैक्ष्यवैय्यावृत्य
  - ग्लान वैय्यावृत्य
  - गण वैय्यावृत्य
  - कुल वैय्यावृत्य
  - संघ वैय्यावृत्य
  - साधु वैय्यावृत्य
  - मनोज्ञ वैय्यावृत्य
- स्वाध्याय ↓
  - वाचना
  - पृच्छना
  - अनुप्रेक्षा
  - आम्नाय
  - धर्मोपदेश
- व्युत्सर्ग ↓
  - बाह्योपधिव्युत्सर्ग
  - आभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्ग
- ध्यान
  - **आर्तध्यान** ↓
    - अनिष्ट संयोगज
    - इष्टवियोगज
    - वेदनाजन्य
    - निदानजन्य
  - **रौद्रध्यान** ↓
    - हिंसानन्दी
    - मृषानन्दी
    - चौर्यानन्दी
    - परिग्रहानन्दी
  - **धर्मध्यान** ↓
    - आज्ञाविचय
    - अपाय विचय
    - विपाक विचय
    - संस्थान विचय
  - **शुक्लध्यान** ↓
    - पृथक्त्ववितर्क
    - एकत्ववितर्क
    - सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति
    - व्युपरतक्रियानिवर्ति

स्वाध्याय तप के पांच भेद

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ।।25।।

अर्थ-वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ये पांच स्वाध्याय तप के भेद हैं।

विशेषार्थ-वाचना-निर्दोष ग्रन्थ को, उसके अर्थ को तथा दोनों को भव्य जीवों को श्रवण कराना। **पृच्छना**-संशय को दूर करने के लिए अथवा कृत निश्चय को दृढ़ करने के लिए प्रश्न पूछना।

अनुप्रेक्षा-जाने हुए पदार्थ का बार-बार चिंतवन करना। **आम्नाय**-निर्दोष उच्चारण करते हुए पाठ करना और **धर्मोपदेश**-धर्म का उपदेश करना।

व्युत्सर्ग तप के भेद

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः।।26।।

अर्थ- बाह्य और अभ्यंतर उपाधि के त्याग को व्युत्सर्ग कहते हैं। उसके दो भेद हैं। बाह्योपधिव्युत्सर्ग, आभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्ग। **बाह्योपधिव्युत्सर्ग**- धनधान्यादि बाह्य पदार्थों का त्याग। **आभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्ग**- मान आदि खोटे भावों का त्याग। आभ्यंतर व्युत्सर्ग तप के भेद हैं।

ध्यान तप का लक्षण

उत्तम-संहननस्-यैकाग्र-चिन्ता-निरोधो ध्यान-मान्त-र्मुहूर्तात्।।27।।

अर्थ-(उत्तमसंहननस्य) उत्तम संहनन वाले का (आन्तर्मुहूर्तात्) अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त (एकाग्रचिन्तानिरोधः) एकाग्रता से चिन्ता का रोकना (ध्यानम्) ध्यान (कथ्यते) कहलाता है।

विशेषार्थ- किसी एक विषय में चित्त को रोकना ध्यान है। वह उत्तम संहननधारी जीवों के ही होता है और एक पदार्थ का ध्यान अन्तर्मुहूर्त से अधिक समय तक नहीं होता।

ध्यान के भेद

आर्त-रौद्र-धर्म्य-शुक्लानि।।28।।

अर्थ- आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये ध्यान के चार भेद हैं। इनमें आदि के दो ध्यान अशुभ हैं। इनसे पाप का बन्ध होता है शेष दो ध्यान शुभ हैं। इनके द्वारा कर्मों का नाश होता है।

आर्तध्यान- दुःख, पीड़ा आदि में जो ध्यान होता है वह आर्तध्यान है।

रौद्रध्यान- रुद्र का आशय क्रूर कर्म में होने वाला ध्यान रौद्र ध्यान है।

धर्मध्यान - जो धर्म से युक्त ध्यान है वह धर्म ध्यान है।

शुक्लध्यान - जिसमे शुचि गुण का संबंध है वह शुक्ल ध्यान है। इनमें आदि के दो ध्यान अशुभ हैं। जिनसे पाप का बंध होता है। शेष दो ध्यान शुभ हैं। जिनसे कर्मों का नाश होता है।

धर्मध्यान और शुक्लध्यान का फल

परे-मोक्ष हेतू।।29।।

अर्थ- (परे) अन्त के धर्म और शुक्ल ध्यान (मोक्षहेतू) मोक्ष के कारण हैं।

विशेषार्थ- धर्मध्यान परम्परा से और शुक्लध्यान साक्षात् मोक्ष का कारण है। शुरू के आर्त और रौद्र ध्यान संसार के कारण हैं।

अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान का लक्षण

आर्त-ममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः।।30।।

अर्थ-(अमनोज्ञस्य) विष, कांटा, शत्रु आदि अप्रिय वस्तु का (संयोगे) संयोग होने पर (तद्विप्रयोगाय) उससे पीछा छुड़ाने के लिए (स्मृतिसमन्वाहरः) बार-बार विचार करना (आर्तम्) अनष्टिसंयोगज आर्तध्यान है।

इष्टवियोगज आर्तध्यान का लक्षण

विपरीतं मनोज्ञस्य।।31।।

अर्थ- पुत्र, धन, स्त्री आदि प्रिय वस्तुओं का वियोग हो जाने पर उनका मिलन होने के लिए बार-बार चिन्तवन इष्टवियोगज नामक आर्तध्यान है।

वेदनाजान्य आर्तध्यान का लक्षण

वेदनायाश्च।।32।।

अर्थ- वात, पित्त आदि के विकार से शरीर में कष्ट होने से रात दिन उसी की चिन्ता करना वेदनाजन्य नामक आर्तध्यान है।

निदानजन्य आर्तध्यान का लक्षण

निदानं च।।33।।

अर्थ- भोगों की तृष्णा से पीड़ित होकर रात दिन आगामी भोगों को प्राप्त करने की ही चिन्ता करते रहना निदानजन्य नामक आर्तध्यान है।

गुणस्थानों की अपेक्षा आर्तध्यान के स्वामी

तदविरत-देश-विरत प्रमत्तसंयतानाम्।।34।।

अर्थ- वह आर्तध्यान अविरत (आदि के चार गुणस्थान), देशसविरत और प्रमत्तसंयत (छठवें गुणस्थान) में होता है। छठवें गुणस्थान में निदानजन्य नामक आर्तध्यान नहीं होता है।

रौद्रध्यान के भेद व स्वामी

हिंसानृत स्तेयविषय-संरक्षणेभ्यो रौद्र-मविरत-देशविरतयोः।।35।।

अर्थ- हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रहसंचय की भावना से उत्पन्न हुआ ध्यान रौद्रध्यान कहलाता है। यह अविरत तथा देश विरत प्रारम्भिक पांच गुणस्थानों में होता है।

विशेषार्थ- निमित्त के भेद से रौद्रध्यान हिंसानन्दी आदि चार प्रकार का होता है। **हिंसानन्दी**- हिंसा में आनंद मानकर उसी के साधन जुटाने का चिन्तवन। **मृषानन्दी**- असत्य बोलने में आनंद मानकर उसी का चिन्तवन। **चौर्यानन्दी**- चोरी

में आनंद मानकर उसी का चिन्तवन। और **परिग्रहानन्दी**- परिग्रह की रक्षा का चिन्तवन।

धर्मध्यान का स्वरूप व चार भेद

आज्ञापाय-विपाक-संस्थान-विचयाय धर्म्यम्॥36॥

अर्थ- धर्म ध्यान के आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाक विचय, संस्थान विचय चार भेद हैं।

विशेषार्थ- धर्मध्यान के आज्ञाविचय आदि चार भेद हैं। **आज्ञाविचय**- युक्ति और उदाहरण की गति न होने पर आगम की प्रामाणिकता से वस्तु के श्रद्धान का विचार। **अपायविचय**-संसारी जीवों के दुःख का तथा उससे छूटने के उपाय का चिन्तवन। **विपाकविचय**- कर्म के फल का (उदय का) विचार और **संस्थानविचय**- लोक के आकार और स्वभाव का विचार करना।

स्वामी- यह धर्म्यध्यान चौथे गुणस्थान से लेकर सप्तम गुणस्थान तक श्रेणी चढ़ने के पहले तक होता हैं।

आदि के दो शुक्लध्यानों के स्वामी

शुक्ले चाद्ये पूर्व विदः॥37॥

अर्थ-आदि के दो पृथक्त्व वितर्क और एकत्व वितर्क नाम का शुक्लध्यान पूर्वज्ञानधारी श्रुतकेवली के ही होते है। चकार से श्रुतकेवली के धर्मध्यान भी होता है। श्रेणी चढ़ने के पहले धर्म ध्यान होता है और श्रेणी चढ़ने पर क्रम से दोनों शुक्लध्यान होते हैं।

अंतिम दो शुक्लध्यानों के स्वामी

परे केवलिनः॥38॥

अर्थ- अन्त के सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति दो शुक्लध्यान सयोगकेवली और अयोगकेवली के ही होते हैं।

शुक्लध्यान के चारों भेदों के नाम

पृथक्त्वैकत्व-वितर्क-सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाति-व्युपरत-क्रिया-निवर्तीनि॥39॥

अर्थ-पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये शुक्लध्यान के चार भेद हैं।

शुक्लध्यान के आलम्बन

त्रयेक-योग-काय-योगायोगानाम्॥40॥

अर्थ- शुक्लध्यान के चार भेद क्रम से तीन योग, एक योग, काययोग और

योगरहित जीवों के होते हैं। अर्थात् 1. पृथक्त्वर्तिक ध्यान, मन, वचन, काय तीनों योगों के धारक के होता हैं। 2. एकत्व-वितर्क ध्यान तीन योगों में से किसी एक योग के धारक के होता है। 3. सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति-ध्यान केवल काययोग के धारक के होता है। 4. व्युरतक्रियानिवर्ति यह ध्यान योगरहित जीवों के होता है।

आदि के दो शुक्लध्यानों की विशेषता

एकाश्रये सवितर्क वीचारे पूर्वे।।41।।

अर्थ-आदि के दो शुक्लध्यान पूर्ण श्रुतज्ञानी के ही होते हैं तथा ये दोनों शुक्लध्यान वितर्क और विचार सहित है।

एकत्ववितर्क शुक्लध्यान की विशेषता

अविचारं द्वितीयम्।।42।।

अर्थ- एकत्ववितर्क नामक दूसरा शुक्लध्यान विचाररहित होता है।

विशेषार्थ - जिसमें वितर्क और विचार दोनों होते हैं उसे पृथक्त्ववितर्क नामक शुक्लध्यान कहते हैं। और जो केवल वितर्क से सहित होता है उसे एकत्ववितर्क नामक शुक्लध्यान कहते हैं। सूक्ष्मकाययोग के आलम्बन से जो ध्यान होता है उसे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक शुक्लध्यान कहते हैं। जिसमें आत्मप्रदेशों में परिस्पन्द पैदा करने वाली श्वासोच्छ्वास आदि समस्त क्रियाएँ निवृत हो जाती हैं (रूक जाती हैं) उसे व्युपरतक्रियानिवर्ति नामक शुक्लध्यान कहते हैं।

वितर्क का लक्षण

वितर्कः श्रुतम्।।43।।

अर्थ- विशेषरूप से तर्क (वीचार) को वितर्क कहते हैं। अथवा श्रुतज्ञान को वितर्क कहते हैं।

वीचार का लक्षण

वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोग संक्रान्तिः।।44।।

अर्थ- अर्थ, व्यञजन, और योग के पलटने को वीचार कहते हैं।

विशेषार्थ - अर्थ=ध्यान योग्य द्रव्य वा पर्याय। व्यञजन=वचन। योग=मन वचन काय की क्रिया। संक्रान्ति=परिवर्तन।

अर्थसंक्रान्ति- ध्यान करते समय द्रव्य को छोड़कर पर्याय का ध्यान करना और पर्याय को छोड़कर द्रव्य का ध्यान करना अर्थात् ध्यान के विषय का बदलना अर्थसंक्रान्ति है।

व्यञजनसंक्रान्ति - श्रुत के किसी एक वाक्य को छोड़कर दूसरे वाक्य

का सहारा लेना। उसे भी छोड़कर तीसरे वाक्य का सहारा लेना। इसी प्रकार ध्यान करते समय वचन के बदलने को व्यंजन संक्रान्ति कहते हैं।

योगसंक्रान्ति- काययोग को छोड़कर अन्य योग का ग्रहण करना, उसे भी छोड़कर काययोग को ग्रहण करना योगसंक्रान्ति है।

इन तीनों प्रकार की संक्रान्ति को वीचार कहते हैं। जिस ध्यान में इस तरह का वीचार होता है वह वीचारसहित है और जिसमें ऐसा वीचार नहीं होता वह वीचाररहित है।

पात्रों की अपेक्षा निर्जरा का क्रम

सम्यग्दृष्टि श्रावक-विरतानन्त-वियोजक-दर्शन-मोह-क्षपकोपशम-कोप-शान्त-मोह-क्षपक-क्षीण-मोह-जिनाः क्रमशोऽसंख्येय-गुण-निर्जराः।।45।।

अर्थ- सम्यग्दृष्टि, पचमगुणस्थानवर्ती श्रावक, महाव्रती (मुनि), अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करने वाला, दर्शनमोह का क्षय करने वाला, चारित्रमोह का उपशम करने वाला, उपशान्त मोहवाला, क्षपकश्रेणी चढ़ता हुआ, क्षीणमोह (बारहवें गुणस्थान वाला) और जिनेन्द्र भगवान इन सबके परिणामों की विशुद्धता अधिक-अधिक होने से एक से दूसरे के असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

निर्ग्रन्थ साधुओं के भेद

पुलाक-वकुश-कुशील-निर्ग्रन्थ-स्नातका निर्ग्रन्थाः।।46।।

अर्थ- पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ये पांच प्रकार के निर्ग्रन्थ साधु हैं।

पुलाक- जिसके उत्तरगुणों की तो भावना ही नहीं होती तथा किसी क्षेत्र व काल में मूलगुणों में भी दोष लगता है उसे पुलाक कहते हैं।

वकुश- जो मूलगुणों का निर्दोष पालन करता है परंतु अपने शरीर व उपकरणादि की शोभा बढ़ाने में लगे रहते हैं परिवार से गिरे रहते हैं। और विविध प्रकार के मोह से युक्त होते हैं। उसे वकुश कहते हैं। **कुशील**- मुनि दो प्रकार के होते हैं एक प्रतिसेवनाकुशील और दूसरा कषायकुशील।

प्रतिसेवनाकुशील- जिनके मूलगुण तथा उत्तरगुण दोनों ही पूर्ण होते हैं, परंतु उत्तरगुणों में कभी-कभी कुछ दोष लग जाता है उसे प्रतिसेवनाकुशील कहते हैं।

कषायकुशील- जिन्होनें अन्य कषायों के उदय को तो वश में कर लिया हो किन्तु संज्वलन कषाय के उदय को वश में नहीं किया हो उसे कषायकुशील कहते हैं।

निर्ग्रन्थ- जिसके मोहनीय कर्म का तो उदय ही नहीं होता तथा शेष

घातियाकर्म भी जल की रेखा के समान रह जाते हैं। ऐसे बारहवें गुणस्थनावर्ती मुनि निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। **स्नातक**- समस्त घतियाकर्मों का नाश करने वाले केवली भगवान स्नातक कहलाते हैं।

पुलाकआदि मुनियों की विशेषता

संयम-श्रुत-प्रतिसेवना-तीर्थ-लिंगलेश्योपपाद-स्थान विकल्पतः-साध्याः।।47।।

अर्थ- संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग, लेश्या, उपपाद और स्थान इन आठ अनुयोगों के द्वारा पुलाक आदि मुनियों में भेद होता हैं।

इति तत्त्वार्थसूत्रे मोक्षशास्त्रे नवमोऽध्यायः समाप्तः।

मोक्षतत्त्व का वर्णन

दशम अध्याय

केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण

मोह-क्षयाज्ज्ञान-दर्शना-वरणान्तराय-क्षयाच्च केवलम्।।1।।

अर्थ- मोहनीय कर्म का क्षय होने से केवल अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त क्षीणकषाय नामक बारहवां गुणस्थान में रहने के बाद एक साथ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय होने पर केवलज्ञान उत्पन्न होता है।।1।।

विशेषार्थ- चार घातियाकर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने पर केवलज्ञान होता है।

नोट- घातियाकर्मों में सबसे पहले मोहनीय कर्म का क्षय होता है। इसलिए सूत्र में गौरव होने पर भी उसका पृथक् निर्देश किया गया है।

मोक्ष का कारण और लक्षण

बन्धहेत्व-भाव-निर्जराभ्यां कृत्स्न-कर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।।2।।

अर्थ- बन्ध के कारणों का अभाव तथा निर्जरा के द्वारा ज्ञानावरण आदि आठों कर्मों का अत्यन्त अभाव होना मोक्ष है।

विशेषार्थ- आत्मा से समस्त कर्मों का सम्बन्ध छूट जाना मोक्ष है और वह मोक्ष संवर तथा निर्जरा के द्वारा प्राप्त होता है।

मोक्ष में रहने वाले भाव

औपशमिकादि-भव्यत्वानां च।।3।।

अर्थ- सम्पूर्ण औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक भावों का तथा पारिणामिक भावों में से 'भव्यत्व' भाव का मुक्तजीव के अभाव हो जाता है।

मोक्ष में रहने वाले भाव

अन्यत्र केवल-सम्यक्त्व-ज्ञान-दर्शन-सिद्धत्वेभ्यः।।4।।

अर्थ- केवलसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व इन भावों को छोड़कर मोक्ष में अन्य भावों का अभाव हो जाता है।

विशेषार्थ - मुक्त अवस्था में जीवत्व नामक पारिणामिक भाव और कर्मों के क्षय से प्रकट होने वाले आत्मिक भाव रहते हैं, शेष भावों का अभाव हो जाता है। जिन गुणों का अनन्तज्ञानादि के साथ सहभाव सम्बन्ध है ऐसे अनन्तवीर्य, अनन्तसुख आदि गुण भी पाये जाते हैं।।4।।

कर्म क्षय के बाद होने वाला कार्य

त-दनन्तर-मूर्ध्वं गच्छत्या-लोकान्तात्।।5।।

अर्थ- समस्त कर्मों का क्षय होने के बाद मुक्तजीव लोक के अन्तभाग पर्यन्त ऊपर को जाता है।

मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन के चार कारण

पूर्वप्रयोगा-दसंगत्वाद् बन्धच्छेदात् तथा गति परिणामाच्च।।6।।

अर्थ- पूर्व संस्कार से, संगरहित होने से, कर्मबन्ध नष्ट होने से और तथागतिपरिणाम (ऊर्ध्वगमन का स्वभाव) होने से मुक्तजीव ऊपर को जाता है।6।।

मुक्त जीव के उर्ध्वगमन में दृष्टांत

आविद्धकुलाल-चक्रवद् व्यप-गत-लेपालांबु-वदे-रण्ड-बीज-वदग्निशिखावच्च।।7।।

अर्थ- जीव कुम्भकार के द्वारा घुमाये हुए चाक की तरह, लेप रहित तुम्बी की तरह, कर्मबंधन से मुक्ति के कारणा एरण्ड बीज की तरह तथा स्वभाव से ही अग्नि की शिखा की तरह उर्ध्वगमन करता है। 1. **पूर्व प्रयोग**- मुक्तजीव, कुम्भकार के द्वारा घुमाए हुए चाक की तरह पूर्वप्रयोग से ऊर्ध्वगमन करता है। जैसे-कुम्भकार अपने चाक को घुमाकर छोड़ देता है, तब भी वह चाक पहले के भरे हुए वेग के वश से घूमता रहता है, उसी प्रकार जीव भी संसार अवस्था में मोक्ष प्राप्ति के लिए बार-बार अभ्यास करता रहता है। मुक्त होने पर यद्यपि उसका अभ्यास छूट जाता है। तथापि वह पहले के अभ्यास से ऊपर को गमन करता है।।1।।

2. **असंगत्वात**- मुक्तजीव, दूर हो गया है लेप जिसका ऐसी तुम्बी की तरह ऊपर को जाता है। जैसे-तुम्बी पर जब तक मिट्टी या लेप रहता है तब तक वह वजनदार होने से पानी में डूबी रहती है, पर ज्यों ही उसकी मिट्टी गलकर दूर हो जाती है त्यों ही वह पानी के ऊपर आ जाती है। इसी प्रकार यह जीव जब तक कर्मलेप से सहित रहता है तब तक संसार समुद्र में डूबा रहता है पर ज्योंही इसका

कर्मलेप दूर हो जाता है त्यों ही यह ऊपर उठकर लोक के ऊपर पहुंच जाता है।।2।।

3. **बन्धच्छेदात्**- मुक्तजीव कर्मबन्ध से मुक्त होने के कारण एरण्ड के बीज के समान ऊपर को जाता है। जैसे-एरण्ड वृक्ष का सूखा बीज जब चटकता है तब उसकी मिंगी ऊपर को ही जाती है उसी प्रकार यह जीव कर्मों का बन्धन दूर होने पर ऊपर को जाता है।।3।।

4. **गति परिणामाच्च**- मुक्तजीव, स्वभाव से ही अग्नि की शिखा की तरह ऊर्ध्वगमन करता है। जैसे-हवा के अभाव में अग्नि (दीपक आदि) की शिखा ऊपर को ही जाती है उसी प्रकार कर्मों के बिना यह जीव भी ऊपर को जाता है।।4।।

मुक्तजीव के लोकाग्र से आगे न जाने का कारण

धर्मास्तिकायाभावत्।।8।।

अर्थ- धर्मद्रव्य के अभाव होने से मुक्तजीव लोकाग्रभाग से आगे (अलोकाकाश में) नहीं जाते। क्योंकि जीव और पुद्गल का गमन धर्मद्रव्य की सहायता से ही होता है और अलोकाकाश में धर्मद्रव्य का अभाव है।

मुक्तजीवों में परस्पर भेद का कारण

क्षेत्र-काल-गति-लिंग-तीर्थ-चारित्र-प्रत्येक-बुद्धबोधितज्ञानावगाह-नान्तर संख्याल्प-बहुत्वतः साध्याः।।9।।

अर्थ- क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्ध बोधित बुद्ध, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व इन तेरह अनुयोगों विधियों से सिद्ध जीव विभाग करने योग्य हैं।

विशेषार्थ- **क्षेत्र** कोई भरतक्षेत्र से, कोई ऐरावतक्षेत्र से और कोई विदेहक्षेत्र से सिद्ध हुए हैं। 'इस प्रकार की अपेक्षा सिद्धों में भेद होता हैं।' **काल**-'कोई उत्सर्पिणी काल में सिद्ध हुए हैं और कोई अवसर्पिणी काल में, **गति**-कोई मनुष्य गति से सिद्ध हुए हैं और कोई देव या नरकगति से मनुष्य होकर सिद्ध हुए हैं। यह गतिकृत भेद हैं।

लिंग- वास्तव में अलिंग से ही सिद्ध होते हैं अथवा द्रव्यपुलिंग से ही सिद्ध होते हैं। भावलिंग की अपेक्षा तीनों लिंगों से मुक्त हो सकते हैं।

तीर्थ- कोई तीर्थंकर होकर सिद्ध हुए हैं, कोई बिना तीर्थंकर हुए सिद्ध होते हैं। कोई तीर्थंकरकाल में सिद्ध होते हैं और कोई तीर्थंकर के मोक्ष चले जाने के बाद उनके तीर्थ (आम्नाय या शासनकाल) में सिद्ध होते हैं।

चारित्र- चारित्र की अपेक्षा कोई एक-एक से अथवा कोई भूतपूर्व नय की अपेक्षा दो-तीन चारित्र से सिद्ध होते हैं।

प्रत्येकबुद्ध- कोई स्वयं संसार से विरक्त होकर मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

बोधित बुद्ध- परोपदेश रूप निमित्त से होने वाले ज्ञान से विरक्त होकर मुक्त होते है।

ज्ञान- कोई एक ही ज्ञान से और कोई भूतपूर्व-नय की अपेक्षा दो, तीन, चार ज्ञान से सिद्ध होते हैं।

अवगाहना- कोई उत्कृष्ट अवगाहना-पांच सौ पच्चीस धनुष से सिद्ध होते हैं कोई मध्यम अवगाहना से और कोई जघन्य अवगाहना से कुछ कम साढ़े तीन हाथ से सिद्ध होते हैं।

अन्तर- एक सिद्ध से दूसरे सिद्ध होने का अन्तर जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से आठ समय का है तथा विरहकाल जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से छह माह का होता है।

संख्या- जघन्य से एक समय में एक ही जीव सिद्ध होता है और उत्कृष्टता से एक समय में 108 जीव सिद्ध होते हैं। तथा विदेहादि क्षेत्र से सिद्ध होते हैं।

अल्पबहुत्व- इस प्रकार सिद्ध जीवों में बाह्यनिमित्त की अपेक्षा भेद की कल्पना की गई है। वास्तव में आत्मीय गुणों की अपेक्षा कुछ भी भेद (अन्तर) नहीं रहता।

ग्रन्थकार का लाघवप्रकाशन

अक्षरमात्र-पदस्वरहीनं, व्यजनसन्धि विवर्जि तरेफम्।
साधुभिरत्रमम क्षमितव्यं, को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे।।

अर्थ- इस शास्त्र में यदि कहीं अक्षर, मात्रा, पद या स्वर नहीं हो, तथा व्यंजन, सन्धि व रेफ न हो तो सज्जन पुरुष मुझे क्षमा करें। क्योंकि शास्त्ररूपी समुद्र में कौन पुरुष मोह को प्राप्त नहीं होता अर्थात् भूल नहीं करता।

इस ग्रन्थ के पाठ का फल

दशाध्याये परिच्छिन्ने, तत्त्वार्थे पठिते सति।
फलं स्यादुपवासस्य, भाषितं मुनिपुंगवैः।।

अर्थ- दश अध्यायों में विभक्त इस तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) के पाठ करने से श्रेष्ठ मुनियों ने एक उपवास का फल कहा है।

भावार्थ- जो मनुष्य भावपूर्वक पूर्ण मोक्षशास्त्र का पाठ करता है उसे एक उपवास का फल होता है।

तत्त्वार्थ सूत्र कर्त्तारं, गृद्धपिच्छोप-लक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्र-संजात-मुमास्वामी-मुनीश्वरम्।।

अर्थ- गृद्धपिच्छ से युक्त तत्त्वार्थ सूत्र ग्रन्थ के कर्ता, मुनिवृन्द से युक्त गृच्छपिच्छ से उपलक्षित ऐसे उमा स्वामी मुनिराज को मैं नमस्कार करता हूँ।

पढमं चउक्के पढमें, पंचमए जाण पुग्गलं तत्त्व।
छह सत्तमेहि आस्सव, अट्ठमे बंध णायव्वो।।
णवमे संवर णिज्जर, दहमे मोक्खं वियाणे हि।
इह सत्त तच्च भणियं, दह सुत्ते मुणिवरं देहिं।।

अर्थ- प्रथम अध्याय से चार अध्याय जीव तत्त्व का वर्णन है। पाँचवें में पुद्गल अर्थात् अजीव तत्त्व का उल्लेख है छठे और सातवें अध्याय में आस्रव तत्त्व का कथन है, आठवें में बंध तत्त्व का नवमें में संवर तथा निर्जरा तत्त्व का प्ररूपण है तथा दसवें अध्याय में मोक्ष तत्त्व को जानना चाहिए इस प्रकार मुनीन्द्रों पुद्गुल के द्वारा दस अध्यायों में सात तत्त्व कहें हैं।

तवयरणं वयधरणं, संजमसरंण च जीव दयाकरणम्।
अन्ते समाहि मरणं, चउगई दुक्खं णिवारेई।।

अर्थ - तपश्चरण करोगं, व्रतधारण करों संयम का आश्रय लो जीवों पर दया करो तथा अंत में समाधिकरण करने वाला चारों गतियो के दु:खों का निवारण करता है।

कोटिशंत द्वादश चैव कोट्यो लक्षाण्य-शीतिस्-त्र्याधिकानि चैव।
पंचाश-दष्टौ च सहस्र-संख्या-मेतच्छुतं पंचपदं नमामि।।

अर्थ- एक सौ बारह करोड़ तेरासी लाख, अट्ठावन हजार और पाँच पद प्रमाण इस श्रुत ज्ञान को मैं नमस्कार करता हूँ।

अरहंत भासियत्थं गणहर देवेहिं गंथियं सम्मं।
पणमामि भक्तिजुत्तो, सुदणाण महोवहिं सिरसा।।

अर्थ - अरहंत भगवान के द्वारा अर्थ रूप से कहे गये और गणधर देव के द्वारा गूंथा गया समीचीन श्रुतज्ञान रूपी महासमुद्र को में भक्ति पूर्वक सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ।

गुरुवः पातुं नो नित्यं, ज्ञान दर्शन नायकाः।
चारित्रार्णव गंभीरः, मोक्ष मर्गोपदेशकाः।।

अर्थ - जो ज्ञान और दर्शन के नायक हैं, चारित्र रूपी सागर के समान गंभीर हैं और मोक्ष मार्ग का उपदेश देने वाले हैं। ऐसे श्री गुरु हमारी सदा रक्षा करें।

।। ग्रन्थ समाप्ति।।

उपसर्ग विजेता परम पूज्य गणाचार्य श्री 108 विराग सागरजी महाराज द्वारा लिखित, सम्पादित एवं संकलित तथा श्री सम्यग्ज्ञान दिगम्बर जैन विराग विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित प्रवचन सत् साहित्य

सं.	नाम	मूल्य
1.	संस्कृत सर्वोदया टीका (वारसाणुवेक्खा) भाग 1-2	150
2.	संस्कृत रत्नत्रयवर्धिनी टीका (रयणसार) भाग 1-2	185
3.	संस्कृत श्रमणप्रबोधनी टीका (पाहुडद्वय)	

(शोधपूर्ण साहित्य)

4.	शुद्धोपयोग	40	5.	सम्यग्दर्शन	35
6.	आगम चक्खू साहू	25	7.	सल्लेखना से समाधि	30
8.	संत साधना के प्रेरक प्रसंग	20	9.	परम दिगम्बर जैन मुनि (हिन्दी, मराठी, कन्नड़, तमिल, अंग्रेजी)	45
10.	सर्वोदयी दिगम्बर जैन धर्म	30			
11.	तीर्थंकर दिव्य दर्शन	30			
12.	तीर्थंकर दर्शन		13.	व्यसन विचार (ग्रंथ)	200
14.	फूल नहीं, हैं काँटे		15.	संस्कार सुरभि (हिन्दी, गुजराती, मराठी)	18
16.	जिनेन्द्र दर्शन, जिनेन्द्र पूजन	10	17.	आध्यात्मिक शंका-समाधान	30
18.	आध्यात्मिक तत्त्व-चर्चा	40			

(चिंतन साहित्य)

19.	चैतन्य चिन्तन भाग-1	15	20.	चैतन्य चिन्तन भाग-2	15
21.	चैतन्य चिन्तन भाग-3	15			

(बालोपयोगी साहित्य)

22.	बाल विज्ञान भाग-1 (हिन्दी, इंग्लिश, मराठी, कन्नड़)	10	23.	बाल विज्ञान भाग-2 (हिन्दी, इंग्लिश)	10
24.	बाल विज्ञान भाग-3	10	25.	बाल विज्ञान भाग-4	10
26.	कर्म विज्ञान भाग-1 (हिन्दी, इंग्लिश)	10	27.	कर्म विज्ञान भाग-2	10
			28.	कर्म विज्ञान भाग-3	10

(कथा साहित्य)

29.	नैतिक कथा मंजूषा भाग-1	30	30.	नैतिक कथा मंजूषा भाग-2	30

(अनुवाद साहित्य)

31.	वारसाणुवेक्खा		32.	परमरत्नार्चना संग्रह	20
33.	सामायिक पाठ (हिन्दी, गुजराती)	10			

(पद्य साहित्य)

34.	भावों के विशुद्ध क्षण	15	35.	मुक्ताञ्जलि भाग-1	15
36.	मुक्ताञ्जलि भाग-2	15	37.	नव देवता निर्वाण क्षेत्र पूजा	

(संकलित/सम्पादित साहित्य)

38.	साधना से समाधि	20	39.	विमल नित्य पाठावलि	25
40.	आराधना	35	41.	सुभाषित संग्रह	40
42.	आप्त अर्चना		43.	मानतुंग की अमर भक्ति (सचित्र भक्तामर)	65
44.	साधना	10	45.	अनुप्रेक्षा	10
46.	जिनागम दीप	251	47.	सम्मेद शिखर विधान	
48.	चारित्र शुद्धि व्रत	25	49.	करुणामूर्ति सन्त	100
50.	तपस्वी सम्राट	10	51.	यज्ञोपवीत विधि	
52.	साधना के सोपान		53.	पदम् पुराण प्रश्नोत्तरी	100
54.	स्तोत्र भारती	51			

(एकांकी/नाटक साहित्य)

55.	सत्यमित्र-सत्यदृष्टि		56.	प्रद्युम्न हरण	

(पूज्य आचार्य श्री पर आधारित साहित्य)

57.	विरागाभिवंदन अभिनंदन		58.	निस्पृही संत भाग-1-2	60
59.	विराग सेतु (महाकाव्य) (हिन्दी, गुजराती, प्राकृत) भाग-1				100
60.	विराग सेतु (महाकाव्य) भाग-2				
61.	संत काव्य की परम्परा में आचार्य विरागसागर				65
62.	कमल से महाकमल				
63.	घटनायें ये जीवन की	80	64.	दिगम्बरत्व के चितेरे	150
65.	विराग सिंधु की उर्मियाँ	15	66.	विराग वाटिका	41
67.	भक्ति की झंकार	25	68.	विराग काव्यांजलि	
69.	धर्म पीयूष	30	70.	ऐसे चलो मिलेगी राह	40
71.	दूर नहीं है मंजिल	30	72.	उड़ रे पंछी	10
73.	तीर्थंकर वर्धमान	15	74.	पहले देव-पूजा फिर काम दूजा	25
75.	तीर्थंकर ऐसे बनो	60	76.	तट की ओर	10
77.	सिर्फ दो प्रवचन	10	78.	इष्टोपदेश (प्रवचन)	
79.	मानतुंग की अमरभक्ति	150	80.	कल्याणक महोत्सव	20
81.	दान तीर्थ	20	82.	धर्म के दश सोपान	20
83.	जीवों पर दया करो, शुद्ध शाकाहार करो	20			

84. बुराईयाँ ही जेल, अच्छाईयाँ ही मुक्ति 10
85. प्रवचन वर्षा 25
86. कर्तव्यमेव कर्तव्यं 25
87. श्रद्धा प्रसून 25
88. मोक्ष की राह 25
89. विरागामृत-1 30
90. विरागामृत-2
100. समाधि तंत्र (प्रवचन)
101. समयोचित शिक्षायें भाग-1 20
102. समयोचित शिक्षायें भाग-2 20
103. समयोचित शिक्षायें भाग-3 20
104. विराग मंथन (हिन्दी, अंग्रेजी) 5
105. रजत पुष्प 51
106. कहानी सबसे सुहानी 30
107. अक्षय निधि (हिन्दी, अंग्रेजी) 10
108. संस्कार की लहरें 20
109. चलो चलें प्रभु दर्शन को 30
110. आध्यात्मिक धर्म प्रवचन 30
111. घर-घर की कहानी 30
112. वारसाणुवेक्खा प्रवचन 125
113. पर्यूषण निधि 15
114. पद्मनंदि पंचविंशतिः अधिकार 1. धर्मोपदेशामृतम् 200
115. पद्मनंदि पंचविंशतिः अधिकार 2. दानोपदेशम् 40
116. पद्मनंदि पंचविंशतिः अधिकार 3. अनित्य पञ्चाशत् 50
117. पद्मनंदि पंचविंशतिः अधिकार 4-5. एकत्व सप्तति तथा यतिभावनाष्टकम् 85
118. पद्मनंदि पंचविंशतिः अधिकार 6. उपासक संस्कार 60
119. पद्मनंदि पंचविंशतिः अधिकार 7. देशव्रतोद्योतनम् 60
120. पद्मनंदि पंचविंशतिः अधिकार 8-9 सिद्धस्तुति एवं आलोचना 85
121. मेरी भावना
122. आचार्य विराग सागर साहित्य दर्शन 10
123. मेरी भावना प्रवचन
124. फॉर यूथ प्रोग्रेस 22
125. रत्नकरण्डक श्रावकाचार प्रवचन भाग-1 100
126. सामायिक पाठ प्रवचन 85
127. विराग संध्या 20
128. विराग अर्चना 40
129. स्वर्ग पुष्प 30
130. षट्लेश्या प्रवचन
131. ऐसे बनायें घर को स्वर्ग
132. क्यूँ इतना अभिमान है.... 30
133. सिद्धों का खजाना 30
134. अपने नैतिक कर्त्तव्य 30
135. श्रुतज्ञानवर्धक विधान 20

Video D.V.D

1. आचार्य पदारोहण द्रोणगिरि	2. राष्ट्रीय रजत मुनि दीक्षा जयन्ती, उद्गाँव
3. उपसर्ग पर उत्कर्ष की यात्रा	4. आर्यिका विशान्तश्री माताजी, समाधि
5. व्यसन मुक्ति शाकाहार अभियान	6. लोक और मध्यलोक
7. ज्योतिर्लोक और चन्द्रयात्रा	8. जेल प्रवचन
9. स्कूल प्रवचन	10. शाकाहार रैली
11. अहिंसा रैली	12. न्यायालय में प्रवचन
13. 25 दीक्षायें- श्रवणबेलगोला	14. 11 दीक्षायें-गाँधीनगर
15. 8 दीक्षायें-गिरनारजी	16. 11 दीक्षायें-किशनगढ़
17. 26 दीक्षायें-उदयपुर	18. 25 दीक्षायें-जयपुर
19. 8 दीक्षायें-इन्दौर	20. स्वर्णिम जन्म जयन्ती
21. सिद्धांत एवं आध्यात्मिक प्रवचन (वारसाणुवेक्खा, सामायिक पाठ, तत्त्वार्थ सूत्र, पद्मनंदि पंचविंशतिका भाग-1-14)	22. मातृभक्ति
23. देश के नाम कलंक बूचड़खाने	

Audio DVD

1. श्यामा के लाल	2. साधना के सरताज
3. गुरुवर का जयकारा	4. प्रवचन वर्षा (दशधर्म, सोलहकारण)
5. श्री विराग सागर नमोऽस्तु ते	6. करें गुरु भक्ति
7. चलें गुरुवर के द्वार	8. गीत गुरु के गायेंगे
9. जियो हजारों साल गुरुवर	10. मेरे मन वीणा के तारे
11. विराग स्वर्णोत्सव	12. रजतवर्ष मुनिदीक्षा का
13. आचार्य श्री विरागसागरजी महाराज पूजा	
14. हे सन्मति-सन्मति दो	15. स्वर्णिम जयन्ती याद रहेगी
16. प्रथम सूरि बुंदेलखण्ड के	17. गुरु नाम की धूम मची है

साहित्य प्राप्ति स्थान

* **श्री सम्यग्ज्ञान विराग विद्यापीठ**
  चैत्यालय मंदिर, बताशा बाजार, भिण्ड (म.प्र.)
  सम्पर्क सूत्र : पं. वीरेन्द्र जैन (मो. 9754803220)
* **आचार्य श्री विराग सागर विद्यापीठ (बी.एड.कॉलेज)**
  पुष्प विहार कॉलोनी, बीना-470113, जिला-सागर (म.प्र.)

* **विराग फाउण्डेशन**
  द्वारा-श्री अरुण कोटड़िया, II-A विक्रम नगर सोसायटी,
  उस्मानपुरा, अहमदाबाद-380013 (गुजरात)
* **श्री भूपेन्द्र शांतिलाल शाह**
  12-B, वर्धमान सोसायटी, डेरी रोड, मेहसाना-2 (गुजरात)
  सम्पर्क सूत्र- श्री भूपेन्द्र शाह (मो. 9898494914, 9829452020)
* **विराग महिला मंच,** बोरीवली, मुम्बई (महा.)
* **श्रीमती पुष्पा पाटनी**
  574, शांतिनगर, जैन मंदिर के सामने, गोपालपुर वायपास, जयपुर (राज.)
  मो. 09460765050
* **श्री मनीष पाटनी**
  नया बाजार, 54, धर्मकांटा के पास, अजमेर (राज.) मो. 09414002306
* **श्री तिलोक प्रिंटिंग प्रेस**
  विष्णु व्यास मोहता चौक, बीकानेर (राज.) मो. 9314962475
* **राष्ट्रीय विराग युवा मंच, अध्यक्ष**
  श्री राजेश जैन अंजनी नगर, इन्दौर मो. 09425316970
* **राष्ट्रीय युवा मंच अध्यक्ष**
  श्री पंकज पाटनी 72, विंध्याचल नगर, एरोड्रम रोड, इन्दौर मो. 09425476665
* **डॉ. महेन्द्र कुमार जैन 'मनुज'**
  22/2, रामगंज, जिन्सी, इन्दौर-7 मो. 09826091247